वेद-विमर्श

पं. भगवद्दत

सन् 1966

ओ३म्

वेद-विमर्श

[वेदान्तर्गत विविध विषयों, समस्याओं आदि का सूक्ष्म विवेचन]

लेखक

श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, एम. ए.

वेदानुसन्धानकर्ता एव सम्पादक—गुरुकुल-पत्रिका

सन्	५००	मूल्य
१९६६	प्रतियां	२.००

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वेदों के भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेकों खोजपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अब इनकी 'वेदविमर्श' नामक पुस्तक पाठकों के समक्ष उपस्थित है। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वेदों के सम्बन्ध में विभिन्न विषयों पर तर्क संगत ऊहापोह किया है। वेदों की समस्याओं को समझने, उनकी गुत्थियों को सुलझाने का एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। यह पुस्तक लिखकर श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय पर लिखे गये साहित्य में एक उपयोगी पुस्तक की वृद्धि की है। गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग की ओर से यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमी जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। आशा है पूर्व प्रकाशित रचनाओं के समान इस पुस्तक को अपना कर वेदप्रेमी जन गुणग्राहकता का परिचय देंगे।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

सन्
१९६६

प्रिय पाठकवृन्द !

'वेदविमर्श' नामक यह पुस्तक आपके समक्ष उपस्थित है। आप यह जानते ही हैं कि इस भूमण्डल पर वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, और ये उस भाषा में उपनिबद्ध है जिसका प्रचलन आजकल नहीं के समान है। अतः वेदान्तर्गत शब्दों, संज्ञाओं व परिभाषाओं का पूर्णस्पष्टीकरण कर सकना तत्सम्बंधी समस्याओं व गुत्थियों को पूर्णरूप से सुलझा सकना अतिदुष्कर कार्य है। परन्तु उनको समझने व उनके समाधान का प्रयत्न तो आदि काल से किया ही जा रहा है। इसी भावना से प्रेरित हो हमने भी इस पुस्तक मे वेद के विभिन्न शब्दों, परिभाषाओं आदि का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। और वेद के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न विचारों व कुछ विषयों पर लेखनी उठाने का यह उपक्रम मात्र है। प्रिय पाठक वृन्द यह न समझना कि इस पुस्तक मे सब विषयों पर पूर्ण विवेचन हो गया है। पुस्तकान्तर्गत सब विषय बहुत गूढ है, योग की सर्वोच्च भूमिका में पहुंच कर ही बहुत से विषय स्पष्ट

हो सकते हैं अतः यह केवल उन विषयों का बौद्धिक स्पर्शमात्र है फिर भी हमारी यह धारणा है कि यह पुस्तक आपको वेद सम्बन्धी विषयों पर ऊहापोह करने को पर्याप्त सामग्री दे सकेगी।

भवदीय

भगवद्दत्त वेदालंकार

विषय-सूची

—०—

संस्थापक—'स्थिरनिधि'

वेदप्रेमी दानवीर श्री पंडित ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य
'अमृतधारा' देहरादून

ओ३म्

वेद - विमर्श

वेद सरल नहीं हैं

पाश्चात्य विद्वानों के विचारों से प्रभावित व अभिभूत होकर कई भारतीय विद्वानों की यह धारणा बन गई है कि जिस प्रकार कुरान, बाइबल आदि अन्य धर्मग्रन्थ सर्वसाधारण जन के लिये बोधगम्य हैं, सरल हैं, उसी प्रकार वेदों को भी हमें सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाना चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में प्राचीन ऋषि, मुनियों का मत इसके विपरीत है। वेद मन्त्रों के अपने उद्गार भी ऋषियों के मत को पुष्ट करते हैं। निरुक्त के शब्दों में उनका कहना यह है कि जो तपस्वी[1] नहीं है, जो ऋषि-कोटि में नहीं

---

१. नातपस्काय मन्त्ररहस्यं देवतारहस्यं वा प्रत्यक्षं भवतीति ····· तस्यास्तपसा पारमीप्सि-

पहुंचा है, उसे मन्त्रों व देवताओं के रहस्य का प्रत्यक्ष त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। इसलिये गुह्य विद्या से परिपूर्ण तथा समग्र ब्रह्माण्ड का ज्ञान देनेवाली इस वेदवाणी के परले छोर पर तप द्वारा पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिये। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा आती है—जो इस पर अच्छा प्रकाश डालती है। वह इस प्रकार है कि—भरद्वाज ऋषि ने तीन जन्मों में आजन्म ब्रह्मचर्य[1] धारण करके वेदों का अध्ययन किया

तव्यम्। (यास्क १३।१३) न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्। (बृहद्देवता ८।१२६)।

१. भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भि र्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्या किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां ह एकैकस्मान्मुष्टिमा ददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वै त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथ ते इतरदननूक्तमेव। एहि इम

जब वह वृद्धावस्था में जीर्ण शीर्ण मृत्यु-शय्या पर पड़ा था, तब इन्द्र ने उसके पास आकर कहा कि हे भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें चौथा जन्म और दे दूं तो तुम क्या करोगे ? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि उस जीवन में भी मैं आजन्म ब्रह्मचारी रह कर वेदों का स्वाध्याय ही करूंगा । इस पर इन्द्र ने उसे तीन बड़े अज्ञात पहाड़ दिखाये और हरएक से एक-एक मुट्ठी लेकर कहा कि भरद्वाज ! आओ, देखो ये वेद है, ये अनन्त हैं । तू तो तीनों जन्मों में थोड़ासा ही पढ़ पाया है । अधिकांश तो तेरे लिये अज्ञात ही पड़ा है, आओ इसे जानो । इस में सब विद्याएं है ।'

इस ऐतिह्य का भाव स्पष्ट है कि भरद्वाज ऋषि तीन जन्मों तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर के भी वेदों के पूर्ण ज्ञाता नहीं बन सके । उन्हें इन महान्, विशाल तथा अत्युन्नत वेद-पर्वतों से केवल एक-एक मुट्ठी ज्ञान प्राप्त हुआ । इससे यह स्पष्ट है कि वेद इतने सरल नहीं हैं कि सर्व-

---

विद्धि । अयं वै सर्वा विद्या इति । (तै. ब्रा. ३।१०।११।३-४) ।

साधारण जन इन्हें समझ सकें । जिन मन्त्रों के अर्थ व देवताओं के स्वरूपों के सम्बन्ध में हम यह समझते हैं कि ये तो हमें ज्ञात है, पता नहीं वे भी वास्तव में ज्ञात हैं कि नहीं ?

शाकपूणि[१] आचार्य यह समझता था कि मैं सब देवताओं व उनके स्वरूपों को जानता हूं। उसके मन में इतना संकल्प पैदा ही हुआ था कि एक उभयलिङ्गी देवता उसके सामने प्रकट हुई। वह उसे न जान सका।

इस प्रकार निरुक्त व व्याकरण आदि ग्रन्थों का प्रकाण्ड पण्डित व मन्त्र-विचार में प्रवीण शाकपूणि भी जब देवताओं के स्वरूप को नहीं जान सका तो इससे यह स्पष्ट है कि वेदार्थ-बोध इतना सरल नहीं है कि सर्वसाधारण जन भी उसे भलीभांति समझ सकें। विद्वानों में भी वेदों

---

१. शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवतोभयलिङ्गी प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे । तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति । नि. २।८ ।

का पूर्णज्ञाता तो दूर रहा, वेदों का स्थिरपील भी कोई विरला ही होता है। वेद-दुग्ध का पान करने के लिये प्रायः सभी मायारूपी एक कृत्रिम वाक्–धेनु का निर्माण कर लिया करते हैं जो कि सच्ची वाक्–धेनु नहीं होती। एक स्वतः निर्मित कृत्रिम वाक्-वृक्ष को अपने अन्दर अंकुरित कर लेते हैं, जिसमें कोई पुष्प फल नहीं होता। वेदों का ज्ञान प्राप्त कर के हम इस भूतल के ही सर्व प्रकार के कल्याणों को नहीं प्राप्त कर सके, अन्य लोकों के कल्याणों की तो बात ही दूर है। इससे यह स्पष्ट है कि हमें वेदों का सच्चा ज्ञान नहीं हुआ है।

हमारे मंत्रोच्चारण में वह शक्ति नहीं जो सफल क्रिया कर सके। अतः हमें मानना पड़ता है कि वेद हमारे हाथ में आकर कुण्ठित हो गये हैं। वेद का यह स्पष्ट कथन है कि यह वेदवाणी किसी बिरले व्यक्ति के लिये ही अपने स्वरूप को खोलती है। प्रश्न यह है कि वह कौनसा व्यक्ति है? इसका उत्तर यह है कि वह ऋषि है। इसी लिये प्रत्येक मन्त्र पर ऋषि दिये

गये हैं। इस प्रकार वेद व वैदिक साहित्य के कुछ उद्धरण हमने प्रदर्शित किये, और भी अनेकों उद्धरण इस सम्बन्ध में दिखाये जा सकते हैं इससे यह स्पष्ट है कि ऋषित्व की प्राप्ति पर स्पष्ट होने वाली ऋषियों की इन गूढ़ दृष्टियों को सामान्य जन कैसे जान सकते हैं ?

वेदों के अध्ययन की दो पद्धतियां

छान्दोग्योपनिषद् में पुरुष अर्थात् आत्मा के जानने के दो विभिन्न पथ दिखाये हैं। एक देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र का और दूसरा असुरों के प्रतिनिधि विरोचन का। इस संपूर्ण कथानक को यहां दिखाना तो अप्रासंगिक होगा—उसका निचोड़ व परिणाम हम इन शब्दों में रख सकते हैं। वह यह कि इन्द्र गहराई में सूक्ष्मता में प्रवेश करता है तो विरोचन चर्मचक्षु से प्रत्यक्ष होने वाली स्थूलता में ही सन्तुष्ट हो जाता है। इन्द्र के लिये आत्मा व केन्द्र प्रमुख है तो विरोचन के लिये शरीर व परिधि।

इस प्रकार ये दो भिन्न दृष्टिकोण हमें सभी

क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रत्येक देश में ये दो भिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले व्यक्ति सदा से होते आये हैं। परन्तु प्रमुख रूप से भारत ने इन्द्र-पथ का अवलम्बन किया है तो पाश्चात्य जगत् ने विरोचन-पथ का। भारतीय दृष्टिकोण सदा से यह रहा है कि 'यस्मिन् विदिते सर्वं विदितं भवति' अर्थात् जिसके जान लेने पर सब जाना जाता है। अतः सृष्टि के आधार उस अन्तर्यामी भगवान् को ही जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके विपरीत पाश्चात्य जगत् अपनी उन्नत अवस्थाओं में सदा भौतिक दृष्टिकोण वाला रहा है। ये दो विभिन्न दृष्टिकोण सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि सामूहिक जीवनों में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार वेदों के अध्ययन में भी ये दो विभिन्न दृष्टिकोण व व विभिन्न पद्धतियां आजकल अपनाई गई हैं।

इस में वैरोचनी पद्धति का अवलम्बन पाश्चात्यों ने किया है। और ऐन्द्री पद्धति का स्वामी दयानन्द व श्री अरविन्द आदि भारतीय योगियों व ऋषियों ने। इसका परिणाम यह हुआ कि वेद

व वैदिक साहित्य के बाह्य रूप का विश्लेषण, अलंकरण व परिमार्जन पाश्चात्य विद्वानों के परिश्रम का फल है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को तारतम्य देना, श्रेणी-विभाजन कर उसको एक नवीन व रोचक रूप देना उन्हीं की देन है। अतएव उन्होंने वैदिक साहित्य के बाह्य रूप अर्थात् शब्दशरीर के आधार पर ही वेद के सम्बन्ध में स्वानुकूल नये-नये परिणाम व नये-नये सिद्धान्त स्थापित किये हैं। और अर्थ की दृष्टि से बाह्य स्थूलार्थ को ही उन्होंने अपनाया है। परन्तु इसके विपरीत भारतीय सदा से 'गूढं, गुह्यं, गह्वरेष्ठं, अपीच्यं, निण्या वचांसि, परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' आदि सैकड़ों सहस्रों संकेतों द्वारा यह निर्देश दे रहा है कि बाह्य रूप व स्थूल अर्थ में ही सन्तुष्ट न होओ। वेद के गुप्तार्थ को जानने का सदा प्रयत्न करते रहो।

वेद की आत्मा (अर्थ)

वेद की आत्मा अर्थ है और शब्द उसका शरीर है। इस लिये वेदाध्ययन करने वाले को

अर्थ का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जो अर्थ नहीं जानता उसे शास्त्रकारों ने भारवाही गधे के तुल्य माना है। इस के विपरीत अर्थ के ज्ञाता को सकल भद्र अर्थात् संसार के समग्र कल्याणों को प्राप्त करने वाला लिखा है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक अवान्तर प्रश्न पैदा होता है कि क्या शब्द में कोई भी शक्ति नहीं है ? यदि शब्द में शक्ति है तो वह केवल गधे का भार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अर्थ के सम्बन्ध में भी प्रश्न पैदा होता है। क्या अर्थ में ऐसी शक्ति है कि मनुष्य मन्त्रों का अर्थ जानकर सकल कल्याणों को प्राप्त कर लेता है ? यदि यह सत्य है तो आजकल मन्त्रों के ज्ञाता अनेकों हैं, तथा वेदभाष्यकार तक दृष्टिगोचर होते हैं। पर उन्हें संसार के समग्र कल्याण प्राप्त हो गये हैं, ऐसा देखा व सुना नहीं गया। इसलिये आवश्यक यह है कि शब्दशक्ति व अर्थशक्ति दोनों पर गम्भीर विचार किया जाये, और निरीक्षण व परीक्षण द्वारा दोनों की इयत्ता का अवधारण किया जाये। जब ऐसा होगा तभी हम

वेद की महिमा को प्रदर्शित करने वाले वाक्यों पर न्याय कर सकेंगे । शब्द में कोई विशिष्ट शक्ति है कि नहीं, और यदि है, तो वह किस प्रकार की है, यह हम दिखायेंगे । अब हम यहां अर्थ पर कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं ।

वेद का सत्य अर्थ

वेद के सत्य अर्थ का प्रकाशन किस प्रकार हो यह एक बड़ी समस्या है । आर्ष युग के पश्चात् वेद के सत्य अर्थों का प्रकटीकरण, व्याकरण निरुक्त व ज्योतिष आदि वेदांगों की सहायता से आध्यात्मिकादि त्रिविध प्रक्रियाओं में किया जाता रहा है । परन्तु इसके विपरीत आधुनिक समय में पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद को आधारभूत मानकर भाषा विज्ञान (Philology) पौराणिक कथा विज्ञान (Mythology) तथा इतिहास को वेदार्थ में प्रमुख स्थान दिया है । इस प्रकार समय-समय पर वेदार्थ के लिये इन सब साधनों में गौण मुख्य भाव होता रहा है । ये सब साधन होते हुए भी हम यह निस्संकोच भाव से कह

सकते हैं कि वेद के सत्य अर्थों का प्रकटीकरण व उसकी सर्वमान्यता अभी तक नहीं हो सकी है। इसके जहां और भी कई कारण हैं वहां मन्त्रार्थों में विरोध का होना भी एक बड़ा कारण है। विभिन्न दृष्टिकोण वाले विद्वानों में मन्त्रार्थ में विरोध हो जाना स्वाभाविक बात है। परन्तु एक क्षेत्र के विद्वानों में मन्त्रार्थ के विषय में विरोध होना वेद के सत्यार्थ के निर्णय में और भी अधिक रुकावट को उत्पन्न करता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि एक दृष्टिकोण वाले विद्वानों द्वारा एक ही क्षेत्र में मन्त्र के जो अनेकार्थ किये जाते हैं, उनमें कौनसा अनुकूल है और कौनसा नहीं, इसका सूक्ष्म विवेचन द्वारा निर्णय होना भी अत्यन्त आवश्यक है। क्षेत्रभेद के आधार पर मन्त्रों का अनेकार्थ होना विरोध नहीं है, यह अनेकार्थ आवश्यक है। यह हमें खूब अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि वेद के सत्यार्थ का निर्णय कैसे किया जाये ? इस सम्बन्ध में कई विद्वानों का इस निरुक्त वचन के आधार पर

यह कहना है कि – 'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' अर्थात् वदार्थ में वही विद्वान् प्रशस्य है जो कि अनेकों विद्यायें जानता हो। इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, व्याकरण निरुक्त तथा नाना प्रकार के विज्ञानों में पारगत हो। परन्तु केवल इस व्याख्या से हम पूर्ण सहमत नहीं हे। किसी अश मे यह अर्थ भी सम्भव है पर हमारे विचार में यहां पर 'भूयोविद्यः' का अर्थ ब्रह्मिष्ठ है। ऐसे बहुत से विद्वान् होंगे जो अनेकों विज्ञानों तथा संस्कृत साहित्य से भलीभांति परिचित हों, परन्तु वेदार्थ में उनकी गति न हो। अतः 'भूयोविद्यः' का अनेक विद्याओं का वेत्ता यह अर्थ उपर्युक्त निरुक्त वाक्य के सही भाव का उपयुक्त चित्रण नहीं है। 'भूयोविद्य' का वास्तविक भाव पारोवर्यविद्' के आधार पर हमें समझना होगा। अर्थात् जो अपनी आध्यात्मिक दिव्य शक्तियों द्वारा ब्रह्माण्ड के पर और अवर को जानता हो, केवल जानता ही न हो अर्थात् पारोवर्यविद् ही न हो, अपितु उन में भी 'भूयो विद्यः' (ब्रह्मिष्ठ) हो, तो वह प्रशस्य है, वह

सर्वश्रेष्ठ है । जिन ऋषियों के अति निर्मल मन रूपी दर्पण पर मन्त्रों का प्रतिबिम्ब पड़ता है वहां अन्य विद्याओं की आवश्यकता नहीं होती। इसी दृष्टि से यह कहा गया है—

यस्मिन् विदिते सर्वं विदितं भवति.
यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

यह उपाय उसी प्रकार है, जिस प्रकार दिन में सूर्य द्वारा प्रकाशित मार्ग पर चलना होता है। इस के अतिरिक्त अन्य सब उपाय, यथा भौतिक विद्याएं तथा निरुक्त, व्याकरणादि वेदांग उसी प्रकार है, जिस प्रकार गहन अन्धकार में दीपक से मार्ग ढूंढना होता है। अतः हमारे विचार में उस व्यक्ति का वेदार्थ सत्य के अधिक सन्निकट है जो कि वेदांगों व भौतिक विद्याओं के साथ-साथ अध्यात्मविद्या की गहराई में भी बैठा हो।

तर्क द्वारा अर्थ

निरुक्त में आता है कि—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्।

को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् ।

(निरुक्त)

अर्थात् जब इस पृथिवी पर से ऋषि उत्क्रमण कर गये तो मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा ? इस पर देवताओं ने मनुष्यों को तर्कऋषि प्रदान किया ।

यह ठीक है कि उस समय मन्त्रार्थ का द्रष्टा तर्कऋषि था । परन्तु हमे कहना पड़ता है कि अब तर्कऋषि नहीं है । इस मे कारण यह है कि ऋषियो के जिन मनुष्य शिष्यों को तर्क-ऋषि प्रदान किया गया था, वे शिष्य ऋषि न सही ऋषि-समकक्ष व ऋषितुल्य ही थे । इसीलिये कहा गया है कि 'तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षन्तद्' अर्थात् अनूचान व्यक्ति का तर्क ही ऋषि पदवी को प्राप्त कर सकता है । अनूचान अग्निकल्प को कहते हैं । अर्थात् साधना व तप करते करते जो अग्निकल्प बन गया है, यहां उसी के तर्क का ग्रहण किया है ।

महाराणा प्रताप के हाथों में आई हुई तलवार तो शत्रुओं का विनाश कर देगी, परन्तु वही तलवार यदि एक कायर आदमी के हाथ में दे दी जाये तो वह शत्रुओं के विनाश की अपेक्षा उसी का विनाश कर देगी। इसलिये हम साधारण जनों को वेदार्थ में तर्क का बहुत अवलम्बन नहीं करना चाहिये।

तर्क का वास्तविक भाव व उसका क्षेत्र मनुष्य का अपना अन्तस्तल है। तर्क शब्द 'कृती छेदने' धातु से बनता है। अर्थात् इस तर्करूपी शस्त्र द्वारा मनुष्य को अपनी बुद्धि पर आये हुए आवरण का छेदन-भेदन करना चाहिये। ये आवरण नाना भांति के प्रलोभन व मिथ्या युक्तियां देकर हमें भुलावे में रखते हैं। उनका खण्डन करना, उनका छेदन करना ही तर्क का असली रूप है। जिस समय मनुष्य के अन्दर विद्यमान उस दिव्य सूर्य पर से आवरण हट जायेगा तो सत्यार्थ का हमें स्वयं प्रकाश हो जायेगा। क्योंकि चारों वेद हमारे अन्दर ही विद्यमान हैं (यस्मिन्नृच. साम यजूंषि यस्मिन्

प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा: यजु. ३४।५) । यास्क ने लिखा है कि "तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यनार्षत्" तपस्या करते हुए ऋषियों को स्वयम्भु वेद का साक्षात् दर्शन हुआ। स्वयम्भुब्रह्म वेद है । ब्रह्म और वेद में कोई अंतर नहीं है। इसी लिये आवश्यकता इस बात की है कि आवरणों को हटा कर मन्त्रों को देखा जाये । तर्क का यह उपर्युक्त भाव लेने से उसका प्रयोग ही दूसरा हो जाता है। वह तर्क बाह्य-कुतर्क व शुष्क-विवाद का रूप न धारण कर के बुद्धि-सूर्य पर पड़े आवरण को हटाने का एक साधन बन जाता है।

अर्थों की इयत्ता (सीमा)

प्राचीन समय से यह मान्यता चली आ रही है कि वैदिक शब्दों के अर्थ अनेक क्षेत्रों में घटित होते हैं । और फिर कई शब्द ऐसे भी हैं जो एक ही क्षेत्र में अनेकों अर्थों व अनेकों स्तरों पर प्रयुक्त होते हैं । इस संबन्ध में हम आगे विचार प्रस्तुत करेंगे । अब हमारा यहां विचारणीय विषय

यह है कि एक क्षेत्र में अर्थ की इयत्ता व सीमा भी होती है कि नहीं ? दुर्गाचार्य ने जो यह लिखा है कि—

नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च-एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। (निरुक्त २।८)

इन वेद के शब्दों में अर्थ की इयत्ता अर्थात् सीमा नहीं है। ये शब्द महान् अर्थों वाले हैं जिनका ज्ञान सरल नहीं है। ये शब्द वक्ता की विशेषता से उत्कृष्ट उत्कृष्टतर आदि अर्थों को प्रकट करते हैं।

दुर्गाचार्य की यह उक्ति ब्राह्मणग्रन्थ के 'ता एता एकव्याख्यानाः। (श० प० ६।२।१।२७)' की ही व्याख्या है, ऐसा समझना चाहिये। उसकी यह उक्ति विभिन्न क्षेत्रों के लिये है। विभिन्न क्षेत्रों में ही यह चरितार्थ होती है। अतः हमारे विचार में एक क्षेत्र में तो अर्थों की इयत्ता व सीमा का निर्धारण अवश्य होना ही चाहिये। यदि

यह न होगा तो अर्थों की कोई व्यवस्था न रहेगी। जबतक एक क्षेत्र मे अर्थों की इयत्ता का अवधारण नहीं होता तब तक वेद के सही अर्थों का प्रकाश व उनका सीमा-निर्धारण असभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। प्रचीन समय में भी ऋषियों व विद्वानों ने अर्थों की इयत्ता-निर्धारण के प्रयत्न किये है। उदाहरण के तौर पर यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त के विवादास्पद निर्वचन देखे जा सकते है। वैश्वानर व द्रविणोदा आदि शब्दों का विवेचन एक प्रकार का अर्थों का सीमानिर्धारण का प्रयत्न ही तो है।

उदाहरण के तौर पर हम भी वेद के मनस शब्द को लेते है। यह प्रमुख रूप से व्यक्ति की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र का एक शब्द है। प्रश्न यह है कि 'मनस्' शब्द से अन्तस्तल की किस शक्ति का कितना स्वरूप व क्षेत्र ग्रहण किया जाये? क्योंकि वेद में अनेकों स्थल ऐसे है जहां 'मनस्' शब्द से सामान्य जन के उथले व वासना परिपूरित मन का ही ग्रहण किया जा सकता है (ऋ० १०। ५८ सूक्त मन-आवर्तन)। दूसरे

ऐसे भी स्थल हैं, जहां मन को त्रिकालज्ञ तथा ऋक्, साम व यजु आदि संहिताओं का आगार माना गया है (यजु० ३४।४,५) अतः प्रश्न यह है कि वेद के किस मन्त्र में 'मनस्' शब्द से किस शक्तिवाले, किस सीमा तक के मन का ग्रहण करना चाहिये ? जिस स्थल पर 'देवेन मनसा' अथर्व १।१।२, 'देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ।' ऋ० १।१६४।१८ आदि विशेषणों से युक्त मन का वर्णन हो तो वहां तो सीमा-निर्धारण बहुत अंश में सुगम समझा जा सकता है ।

परन्तु समस्या यहां भी यही है कि देव की सीमा क्या है ? दिव्य मन का क्या भाव है ? पर जहां कोई विशेषण आदि हो ही नहीं, वहां तो समस्या का पैदा होना स्वाभाविक है । अन्य शास्त्रों के 'मनस्' सम्बन्धी उद्‌गार तो और भी अधिक सन्देह पैदा करने वाले हैं । यथा 'अनन्तं वै मनः' । श० प० १४।६।१।११, 'मनो वा एतद् यत् अपरिमितम् ।' कौ २६।३, श० प० १।४।४।७ अर्थात् अनन्त व अपरिमित मन का स्वरूप क्या है ? और वह अनन्तता कितनी है ? कई व्यक्ति

इस का यह उत्तर देकर आत्मसन्तोष कर सकते हैं कि वेद का सत्यार्थ सरल नहीं है। कोई विरला व्यक्ति ही वैदिक शब्दों की पूर्ण सीमा का अवधारण कर सकता है। जैसा मन्त्र में कहा भी है कि 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती: सुवासा।' ऋ० १०।७१।४ अर्थात् सुन्दर वस्त्रों-वाली कामयमाना स्त्री जिस प्रकार अपने पति के लिये अपने शरीर को खोल देती है, उसी प्रकार यह वेदवाणी किसी विरले भाग्यशाली व्यक्ति के प्रति ही अपने स्वरूप को खोलती है।

हमारे विचार में वेद की यह उक्ति पूर्ण रूप में सही है। परन्तु यहां भी एक अवान्तर प्रश्न पैदा होता है कि स्वरूप को खोलने (विसस्रे) का क्या भाव है? वह स्वरूप किस आवरण से प्रच्छन्न है? वह आवरण व पर्दा क्या है? क्या वह आवरण शब्द का आवरण है? यदि शब्द वेद का शरीर होने के कारण आवरण है तो उस शब्द को व्याकरण व निर्वचन आदि द्वारा भेदन कर दिया जाता है। अत: इस अवस्था में वेदार्थ का पूर्ण-ज्ञान निर्वचन व व्युत्पत्ति के आधार

पर हो ही जाना चाहिये। परन्तु हम यह निश्चय से कह सकते हैं कि ऐसा नहीं होता। निर्वचन व व्याकरण के आधार पर शब्द के छिन्न भिन्न कर देने पर भी वेद का रहस्यार्थ नहीं खुलता। ये निर्वचन व व्याकरण आदि वेदार्थ में सहायक साधन अवश्य हैं पर पूर्ण साधन नहीं।

उदाहरण के तौर पर वेद का कोई भी शब्द लिया जा सकता है। हम 'अश्व' और 'आपः' को लेते हैं। अश्वपद के अग्नि व सूर्य आदि अर्थ व्याकरण व निर्वचन के आधार पर नहीं किये जा सकते। 'अश्व' (अशूङ् व्याप्तौ) यदि व्याप्ति भाव से अग्नि, सूर्य आदि के लिये आ सकता है तो 'आपः' (आप्लृ व्याप्तौ) के लिये क्यों नहीं आ सकता? परन्तु वेदों में 'आपः' के लिये अश्वपद का प्रयोग नहीं हुआ और नाहीं यह आपः शब्द अग्नि व सूर्य के लिये आता है। इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों की व्याप्ति में महान् अन्तर है। इसलिये विचारणीय यह है कि वह कौनसी ऐसी विभेदक शक्ति है जो कि किन्हीं विशिष्ट शब्दों में ओतप्रोत हो उनकी सीमा को

निर्धारित करती है। हमारे विचार में इसी सूक्ष्म शक्ति की ओर उपर्युक्त मन्त्र (ऋ० १०।७१।४) में संकेत प्रतीत होता है। वह सूक्ष्म शक्ति जो कि वेद के रहस्यार्थ व गुप्तार्थ को खोलती है, आध्यात्मिक शक्ति, योगदृष्टि, आर्षदृष्टि का ही रूप है।

अर्थ की इयत्ता व सीमा कहा समाप्त होती है इस तथ्य को पूर्ण रूप से हृदयंगम करने के लिये हमें निरुक्त के देवता-निर्णय सम्बन्धी निम्न वाक्य पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिये। वह वाक्य इस प्रकार है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति।

(निरुक्त)

इस निरुक्त वाक्य पर यहां हमें स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं करना है। यहां हमारा प्रयोजन केवल 'आर्थपत्यम्' से है। इस उपर्युक्त वाक्य में 'यत्काम' और 'आर्थपत्यम्' ये दो विषय प्रमुख

हैं। दैवत-निर्णय तो परिणाम है। इस पर विशेष विचार हम फिर कभी करेंगे। इस वाक्य का संक्षिप्त भाव हमारी दृष्टि में इस प्रकार है 'जिस अभीष्ट कामना की पूर्ति के लिये ऋषि जिस देवता के पास पहुंचता है। किस लिये ? देवता द्वारा अभिधेय वस्तु (अर्थ) का मैं स्वामी बन जाऊं। इस की सिद्धि के लिये वह स्तुति का प्रयोग करता है, उस देवता वाला वह मन्त्र है। इसी अर्थ को अब हम एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं।' अभीष्ट कामना की पूर्ति चाहता हुआ ऋषि जिस इन्द्रादि देवता की स्तुति करता है, किस लिये ? उस इन्द्रादि देवता का अर्थ-प्रतिपाद्य वस्तु विद्युत् object Matter (न कि प्रतिपाद्य अर्थ अर्थात् केवल शब्दार्थ) का मैं स्वामी बन जाऊं, उस देवता वाला वह मन्त्र है।

हम देवता को प्रतिपाद्य विषय मान कर अर्थात् शब्दार्थ से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। कामना ही जब हमारी इतनी है कि मन्त्रों के विषय ज्ञात हो जायें, देवता क्या है ? यह पता लग जाये तो अर्थ व विषय तो ज्ञात

हो गये हैं । अब क्या चाहिये ? क्या हम ऋषि बन गये ? क्या हमारी कामनायें पूरी हो गईं ? इसलिये हमारे विचार में ऐसा अर्थ का स्वामित्व (आर्थपत्यम्) तो सट्टा मात्र है, जबानी जमा–खर्च है। आइये ! अब हम पाश्चात्य लोगों का इस यास्कोय वाक्य का अर्थ देखें। पाश्चात्यों ने देखा कि देवता–'तेन प्रतिपाद्यं वस्तु' प्रतिपाद्य वस्तु होता है । इन्द्र पद द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु विद्युत् है । इस विद्युत् रूपी अर्थ का स्वामी (आर्थपत्यम्) बनना है । उन्होंने सतत साधना द्वारा (स्तुति प्रयुङ्क्ते) पहिले तो इन्द्र रूपी विद्युत् का आविष्कार किया, उसके स्वामी बने, ऋषि कहलाये और फिर इससे उन्होंने सर्व प्रकार की कामनाएं पूरी कीं । यह अर्थ तो हमें समझ में आता है । इस प्रकार अर्थों के स्वामी बनने पर वेद सर्व सत्यविद्याओं के पुस्तक सिद्ध होंगे । और उनका इस भूतल पर स्वत. प्रचार होगा, अन्यथा नहीं । हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यास्का-चार्य का यह वाक्य प्रयोगशाला का वाक्य है । इसीलिये 'प्रयुङ्क्ते' कहा है । और अर्थ की इयत्ता

तादृभाव्य तक है । इसी दृष्टि से निरुक्त में कहा है कि—

'यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ता-द्भाव्यमनुभवति' । (निरुक्त)

अर्थात् जिस–जिस देवता का निर्वचन व कथन करता है, उस-उस देवता के ताद्भाव्य की अनुभूति भी साथ-साथ होती जाती है । ताद्भाव्य की अनुभूति उस देवता के स्वरूप ज्ञान व आन्तरिक प्रत्यक्षीकरण को कहते हैं । यह ताद्भाव्य की अनुभूति ही अर्थ की इयत्ता की निर्णायक कसौटी है ।

मन्त्रों का विनियोग

देवता के ताद्भाव्य की अनुभूति विनियोग पर आश्रित है । कामनापूर्ति व अर्थपतित्व भी विनियोग पर ही आश्रित है । बिना विनियोग के वेद पंगु है । इसी दृष्टि से जैमिनि ऋषि ने यह सूत्र रचा था— 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-

मतदर्थानाम्' अर्थात् वेद क्रिया के लिये ही हैं। अतएव हमारे विचार में अर्थ की इयत्ता व सीमा और उसकी सत्यता विनियोग व क्रिया द्वारा ही पता चलती है। जब तक क्रिया द्वारा यह नहीं ज्ञात हो जाता कि वेद के शब्दों में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं वे सत्य हैं, कसौटी पर खरे उतरे हैं तब तक अर्थ की इयत्ता का निर्धारण व अर्थपतित्व आदि असंभव है।

अर्थों का प्रवाह सूक्ष्मता की ओर

जिस प्रकार समुद्र में पानी के कई स्तर होते हैं। पृथिवी में ऊपर नीचे मिट्टी की कई तहें होती हैं। उसी प्रकार वैदिक शब्दों के भी अनेक अर्थ होते हैं जो कि प्रकृति के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन के मुख्य रूप से दो विभाग किये जा सकते है, जो कि इस प्रकार से हैं—

स्थूल = सूक्ष्म
प्रत्यक्ष = परोक्ष
बाह्य = आन्तर (गुह्य)

स्थूल रूप में अर्थों के ये दो विभाग किये जा सकते हैं। इन दो विभागों के आधार पर यदि हम अर्थों पर गंभीरता से विचार करें तो उनसे यह ध्वनित होता है कि प्रत्येक शब्दार्थ बाह्य क्षेत्र से अन्दर की ओर गति कर रहा है। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर, बाह्य से अन्दर व गुह्य की ओर अभिमुख हो रहा है। उदाहरण के तौर पर दो तीन शब्दों के अर्थों को हम क्रमशः प्रस्तुत करते हैं—

सोम

यह सोम पृथिवी पर आकर औषधि-वनस्पति व रसात्मक स्थूल रूपों को धारण करता है। यही स्थूल सोम अन्न रूप मे मनुष्य मे पहुंच कर रस, रक्त, मज्जा, मेदा आदि में परिवर्तित होता हुआ वीर्य व ओज आदि सूक्ष्म रूपों में परिणत हो जाता है यह इन्द्रिय-रस अर्थात् इन्द्रियों का सार भी सोम का ही एक रूप है। इतना ही नहीं इस रसात्मक सोम से उत्पन्न आनन्द भी सोम नाम से कहा जाता है। यह सोमोद्भूत आनन्द दिव्य

और अदिव्य दोनो रूपों में होता है । इस प्रकार सोम को पूर्ण रूप से समझने के लिये क्षेत्र-भेद व उनके विभिन्न स्तरों पर गंभीर रूप से दृष्टिपात करने की अत्यन्त आवश्यकता है । सोम के इन सब अर्थों पर गम्भीर विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि यह सोम किस प्रकार स्थूल रूप से सूक्ष्म रूपों को धारण करता है ।

घृत

अब हम घृत शब्द को लेते हैं । घृत के बाह्य व स्थूल रूप से किस प्रकार सूक्ष्म व गुह्य रूप होते गये हैं, यह हम संक्षेप मे यहां दिग्दर्शन कराते हैं ।

१ अन्न रस—अन्नस्य घृतमेव रसः ।

मं० २।६।१५

२ पशु-रस–तेजो वा एतत् पशूनां यद्-घृतम् ।

ऐ० ८।२०

३ मनुष्य रस—(वीर्य)—रेतो वै घृतम्।

शं० ब्रा० ९।२।३।४४

४ अग्नितेज (अग्नि)–एतद्वा अग्नेस्तेजो यद्घृतम्।

तै० सं० २।५।२।७

५ गुह्य नाम–घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।

ऋ० ४।५८।१

इस प्रकार वेदों में सामान्य घृत व गुह्य घृतका वर्णन हुआ है। ऋ ४।५८ सूक्त में तो गुह्य घृत का स्पष्ट तौर पर वर्णन हुआ है। इस में एक स्थल पर आता है कि मानव के हृदयस्थ[1] समुद्र से घृत की धारायें ऊर्ध्व की ओर गति कर रही हैं। एक मन्त्र में कहा गया है कि यह गुह्य[2] घृत तीन प्रकार का है जो पणियों ने

---

१. एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात्। ऋ०४।५८।५

२ त्रिधा हित पणिभिर्गुह्यमानम् ऋ०४।५८।४

और अदिव्य दोनो रूपों मे होता है । इस प्रकार सोम को पूर्ण रूप से समझने के लिये क्षेत्र-भेद व उनके विभिन्न स्तरों पर गम्भीर रूप से दृष्टिपात करने की अत्यन्त आवश्यकता है । सोम के इन सब अर्थों पर गम्भीर विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि यह सोम किस प्रकार स्थूल रूप से सूक्ष्म रूपों को धारण करता है ।

घृत

अब हम घृत शब्द को लेते है । घृत के बाह्य व स्थूल रूप से किस प्रकार सूक्ष्म व गुह्य रूप होते गये है, यह हम सक्षेप मे यहा दिग्दर्शन कराते है ।

१ अन्न रस—अन्नस्य घृतमेव रसः ।

मं० २।६।१५

२ पशु-रस—तेजो वा एतत् पशूनां यद्-घृतम् ।

ऐ० ८।२०

३ मनुष्य रस—(वीर्य)—रेतो वै घृतम् ।

शा० ब्रा० ९।२।३।४४

४ अग्नितेज (अग्नि)–एतद्वा अग्नेस्तेजो यद्घृतम् ।

तै० सं० २।५।२।७

५ गुह्य नाम–घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ।

ऋ० ४।५८।१

इस प्रकार वेदों में सामान्य घृत व गुह्य घृतका वर्णन हुआ है । ऋ ४।५८ सूक्त में तो गुह्य घृत का स्पष्ट तौर पर वर्णन हुआ है । इस में एक स्थल पर आता है कि मानव के हृदयस्थ[१] समुद्र से घृत की धारायें ऊर्ध्व की ओर गति कर रही हैं । एक मन्त्र में कहा गया है कि यह गुह्य[२] घृत तीन प्रकार का है जो पणियों ने

---

१. एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् । ऋ०४।५८।५
२. त्रिधा हित पणिभिर्गुह्यमानम् ऋ०४।५८।४

छिपा रखा है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूक्त रहस्यमय घृत के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहा है।

गौ

यह गौ शब्द भी वेद का एक अति प्रसिद्ध व रहस्यमय शब्द है। इस गौ के धेनु, उस्रा, अघ्न्या व वशा आदि अनेकों पर्यायवाची नाम आते हैं। इन नामों मे कितनी समानता है और कितनी विभिन्नता है इत्यादि विषयों पर अत्यधिक सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता है। शास्त्रों में गौ शब्द के ही रश्मि, वाक्, पृथिवी, स्तोता, पय, चर्म, लोक, आदित्य, अन्न, यज्ञ, प्राण, इन्द्रिय, सरस्वती, विराट् आदि अनेक अर्थ आते हैं। इस से यह स्पष्ट है कि वैदिक शब्दों के अनेक क्षेत्र हैं। इन का आधार क्या है? क्या कोई सूक्ष्म सूत्र इन सब में ओतप्रोत है? या कोई और रहस्यमय समानता है इत्यादि विषय बहुत गम्भीर हैं। जब तक इन बातों का स्पष्टीकरण नहीं हो जाता तब-तक वेद के शब्दों की सीमा व इयत्ता का सही-सही निर्धारण अति कठिन है।

अर्थों में मुख्य गौण भाव

वैदिक शब्दों के अर्थों पर विचार करते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक शब्दों के क्षेत्र-भेद से अनेकार्थ हुआ करते हैं और कभी-कभी इन अनेकार्थों में भी अनेक स्तर होते हैं। बाह्य स्थूलार्थ से धीरे-धीरे गुह्य में जाते हुए वे शब्द अन्तरर्थ के द्योतक हो जाते हैं। और अन्तरर्थ भी और अधिक गुह्य में जाते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म का वाचक बन जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक शब्द का एक ही क्षेत्र में केन्द्रीय अर्थ एक ही होता है और अर्थ तो भक्ति साहचर्य की कोटि के होते हैं।

इन्द्र दिव्य मन को कहते हैं परन्तु हृदय और साधारण मन भी इन्द्र नाम से सम्बोधित होते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि इन्द्र का अध्यात्म में केन्द्रीय अर्थ दिव्य मन (Illumined mind) है और अर्थ उसके भक्ति-साहचर्य की कोटि के हैं। इस विषय को हमने आत्मसमर्पण नामक

पुस्तक में भी स्पष्ट किया है। 'भक्ति-साहचर्य' एक ही क्षेत्र के विभिन्न स्तरों का वाचक है। बहुभक्तिवादी ब्राह्मण-ग्रन्थों ने कहीं-कहीं भक्ति-वादी अर्थ पर अधिक बल दे दिया है अथवा प्रयोजनवश भक्तिवादी अर्थ में इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग कर दिया है। अध्यात्म में इन्द्र का केन्द्रीय अर्थ यदि हम दिव्य मन (Illumined mind) मानें तो उसके वाक्, वीर्य, रेतस व शिश्न आदि अन्य अर्थ भक्तिपरक अर्थ होंगे।

वेदों का सूक्ष्म धरातल

यदि हम वेदान्तर्गत वर्णनीय विषयों पर समग्र रूप से एक सरसरी दृष्टि डालें तो हमें यह प्रतीत होता है कि वेद प्रमुख रूप से एक सूक्ष्म धरातल पर आसीन हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वेदों का असली वर्णनीय विषय सूक्ष्म शक्तियां व सूक्ष्म जगत है। स्थूल जगत उनका वास्तविक क्षेत्र नहीं है। प्रश्न होता है कि यह कैसे ? यदि इस का एक वाक्य में उत्तर देना चाहें तो यह है कि वेदों के सब देवता सूत्रात्मा हैं,

सूक्ष्म रूप है। जिसप्रकार एक सूत्र अनेक मनकों में पिरोया होता है, उसी प्रकार ये देवता भी अनेकों वस्तुओं मे पिरोये हुए हैं और उनमें ओत प्रोत हैं। यदि देवता स्थूल जगत् व स्थूल आकृति से ही सीमित, बद्ध व गृहीत होते तो वे एकार्थक व एक वस्तुनियतार्थक होते। क्षेत्र-भेद व अने-कार्थता उनकी न होती। परन्तु ऐसा नहीं है। द्युलोक, पृथिवीलोक व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनका प्रसारक्षेत्र है। अनेकों आयतनों में वे समाविष्ट हैं। अनेक वस्तुओं के वे वाचक हैं। इसलिये हम यह निःसंकोच भाव से कह सकते है कि वेद के देवता सूक्ष्म रूप में अनेकों वस्तुओं में ओतप्रोत हैं। सूत्रात्मा रूप हैं। उदाहरण के तौर पर वेद के उन देवताओं पर दृष्टिपात किया जा सकता है, जिनमें वेद का बहुत सा भाग समाविष्ट हो जाता है। वे निम्न प्रकार है—

अग्नि—

भूलोक, वीर्य, वाक्, प्राण, मन, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, पर्जन्य, आदित्य, समग्र देवतादि।

इन्द्र—

अन्तरिक्षलोक, वीर्य, वाक्, प्राण, मन, हृदय, आत्मा, सत्र, सूर्य, स्तनयित्नु व समग्र देवता आदि ।

सोम—

चन्द्रमा, अन्न, रस, प्राण, क्षत्र, रेतस्, समग्र देवता आदि ।

उदाहरणार्थ हमने यहां दो एक देवताओं की व्यापकता का दिग्दर्शन कराया । वास्तव में यह भी दिखाने की आवश्यकता नहीं थी । क्योंकि वेदों में सामान्य रुचि रखनेवाला भी प्रत्येक व्यक्ति इस तथ्य को भली भांति जानता है । कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब देवता सूत्र रूप हैं, सूक्ष्म हैं । स्थूल जगत् की स्थूल आकृतियां उनके आयतन अवश्य हैं पर वे उन्हीं में बद्ध नहीं हैं । वे स्थूल आकृतियां सूक्ष्म शक्तियों के वर्णन में सहायक के तौर पर ही वर्णित होती हैं । कई मनचले व्यक्ति उपहास किया करते हैं कि यदि वेद सर्व सत्य

विद्याओं का पुस्तक है तो उसमें ककड़ी (उर्वारुकः ऋ० ७।५६।१२) के सिवाय अन्य फलों का वर्णन तो दिखा दो ? इसी प्रकार के और भी आक्षेप वे किया करते हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि वेदों का वर्णनीय विषय फलों व अन्य वस्तुओं की स्थूलाकृति नहीं है। परन्तु उन फलों के निर्माता सोम व अग्नि आदि सूक्ष्म तत्वों का ही वेद में वर्णन है। सब फलों मे सोम के ही विविध रूप हैं। अतः सोम के वैविध्य से मन्त्रों में वर्णन है न कि फलों की आकृति के वैविध्य से। ओदन शब्द भी चावल की स्थूलाकृतिमात्र का निदर्शक नहीं है। इसी कारण ब्रह्मौदन, स्वर्गौदन, पञ्चौदन आदि पद सार्थक होते हैं। उर्वारुक का दिग्दर्शन उर्वारुक के वर्णन के प्रयोजन से नहीं है अपितु मृत्यु के बन्धन से छुटकारा दिखाने के लिये है। इसी प्रकार यजुर्वेद के १८, २४, २५, ३० अध्यायों तथा अन्य वैदिक सन्दर्भों व मन्त्रों में पशु पक्षिओं, अन्नों, शरीरावयवों तथा अन्य मनुष्य वर्गों आदि का परिगणन अग्नि, इन्द्र, सोम, रुद्रादि

देवताओं के क्षेत्र व प्रसार के दिग्दर्शन, विभिन्न कर्मों व विशिष्ट गुणों के ज्ञापन के लिये है। इसी कारण वहां कौनसे पशु-पक्षी किस देवता की श्रेणी में आते हैं? क्या गुण, धर्म व कर्म आदि उन से प्रतीत होते हैं—इत्यादि सूक्ष्म बातों व सूक्ष्म शक्तियों के प्रदर्शन के लिये है।

यदि स्थूलाकृति का वर्णन होने लगे तो केवल पृथिवी पर ही अनन्तविध वस्तुओं का पसारा है जिसका वर्णन अति दुष्कर है। फिर अनन्त लोक हैं जिन के वैविध्य का तो कोई ठिकाना ही नहीं। अतः हमारा विचार यह है कि प्रत्येक देवता घट-बढ़ रूप में सूत्रात्मा रूप है, सूक्ष्म है। और इन्हीं सूक्ष्म शक्तियों का वेद में वर्णन है। इन्हीं के वर्णन के व्याज से कहीं कहीं स्थूलाकृति का भी दिग्दर्शन हो गया है। इस सम्बन्ध में एक अवान्तर प्रश्न पैदा होता है कि इस व्यापक सृष्टि में जो अनन्त प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि हीन प्राणी और मनुष्य व देव आदि महान् प्राणी हैं उन सब के नाम वेदों में नहीं आते तो हम यह कैसे मानें कि सब संस्थानों व पदार्थों आदि के

नाम व्यवहार (संज्ञा कर्म) का प्रयोजक वेद है ?

इसका बहुत कुछ समाधान हम इस रूप में कर चुके हैं कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के निर्माता तत्वों व उनके गुणधर्मों का वर्णन अग्नि, इन्द्र, सोमादि देवताओं द्वारा अन्य प्रकार से विशद रूप मे वेदों में मिलता है। इन तत्वों के जान लेने पर सब जाना जाता है। इस अवस्था में संज्ञाकर्म अर्थात् नाम व्यवहार भी सुगम होता है और सार्थक होता है। उन सूत्रात्माओं व उनके गुणों व धर्मो को न जान कर केवल उनके आयतन रूप स्थूलाकृति के साथ नाम का सम्बन्ध जोड़ देने मात्र से ज्ञान का कोई वैशिष्ट्य नहीं है। और फिर यह भी नहीं कह सकते कि वेदों में मानव व मानवेतर प्राणी कीट, पतंग तथा अन्य स्थूल से स्थूल व सूक्ष्माति-सूक्ष्म जीवों का वर्णन नहीं है। वर्णन अवश्य है पर वहां गुण, धर्म, कर्म आदि जाति के आधार पर विभाजन कर वर्णन हुआ है। इस संबन्ध में वेदों तथा विशेष कर अथर्ववेद के बहुत से प्रकरण देखे जा सकते हैं।

पुनश्च इन सब बातों पर विचार करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वेदों का ज्ञान मनुष्यों के लिये है। मनुष्य अपनी अल्पज्ञता व अल्प-शक्ति के कारण कुछ कुछ जान सकता है। वह प्रत्येक को पूरा-पूरा नहीं जान सकता और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भी नहीं जान सकता। इस-लिये मानव हित के लिये बीज रूप में श्रेणी विभाजन कर वेदों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान भर दिया है। और ब्रह्माण्ड का यह बीज रूप वर्णन भी सूत्र रूप में है अर्थात् सूत्रात्मा रूपी सूक्ष्मशक्तियों का वर्णन है।

इन सूत्रात्मा रूपी सूक्ष्म तत्वों को लेकर मानवबुद्धि यदि किन्हीं वस्तुओं का निर्माण कर लेती है यथा रेलगाड़ी, एटम बम्ब, विमान आदि, तो इस पर यह कहा जाये कि ये वस्तुएं वेदों में नहीं हैं तो यह वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने और सर्व सत्यविद्याओं का आगार होने के भाव को न समझना है। हमारे विचार में जिन तत्वों से मानव बुद्धि किसी भी वस्तु का निर्माण करती है उन तत्वों का विशद वर्णन वेदों में है। जिस

प्रकार भगवान् सृष्टि निर्माण करते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी उन तत्वों को लेकर कुछ निर्माण कर लेता है। क्योंकि भगवान् और जीव में सर्व और अल्पका ही तो भेद है। अब हम अपने पूर्व पसग पर आते हैं–जैसा कि हमने कहा था कि वेदों में प्रमुख रूप से सूत्रात्माओं का वर्णन है केवल सूत्रात्मा ही नहीं सूत्रात्माओं के भी सूत्रात्मा है ऐसा हमें समझना चाहिये। वेद में आता है कि 'इस सूत्रात्मा अग्नि में एक और अग्नि[1]. प्रविष्ट है'[2]. ऋत से अन्य सूक्ष्म ऋत आवृत है। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य और अन्य ऋषियो का शास्त्रार्थ सूत्रों के भी सूत्र उस अन्तिम सूत्र की खोज का संवाद है।'

इस प्रकार अन्त मे सूत्रों के भी सूत्र उस परमसूत्र व अन्तर्यामी भगवान् पर पहुच कर गाड़ी रुकती है। अतएव प्राचीन समय में आत्मविदों ने सब मन्त्रों के देवता रूप में उस परमसूत्र

---

१ अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः। अथ ४।३९।९

२ ऋतेन ऋतमपिहितम्०

ऋ. ५।६२।१

परमात्मा को ही माना था। उनका यह कहना था कि 'वह परमात्मा ही अपनी महिमा के प्रभाव से विभिन्न देव रूपों में स्तुति किया जाता है। अन्य देव उससे पृथक् नहीं अपितु उसी के प्रत्यग[1] हैं।' उनकी दृष्टि में स्थूल जगत् के 'रथ[2], अश्व, आयुध, इषु आदि आत्म रूप ही हैं।' निरुक्त के इस संदर्भ का तथा अन्य शास्त्रों के इसी प्रकार के प्रयोगों का तात्पर्य तो यह था कि आत्मा प्रमुख है। वह स्थूल जगत् के रथ व आयुध आदि वस्तुओं में ओत-प्रोत है। उसी की महिमा से इन की स्थिति है परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों का परिणाम यह हुआ कि कई आत्मविद् विद्वान् आत्मा के महाभाग्य में इतने लबालब हुए कि उन्होंने वास्तविक सीमा को अतिक्रमण कर

---

१. महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यगानि भवन्ति। (नि० ७।१।४)

२. आत्मैवेषा रथो भवति आत्माश्वः आत्मायुधमात्मे वः आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य। (नि० ७।१।४)

अन्तिम सत्ता (Ultimate reality) केवल चेतन ब्रह्म को ही माना।

चेतन ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी को मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। आत्मवादियों के सिद्धान्त का यह सीमातीत रूप है। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति आत्मविदों की पूर्व सीमा से कुछ नीचे उतरे। उन्होंने आत्मा को प्रमुख केन्द्र न रख कर भौतिक तत्वों के आधार पर सोचना प्रारम्भ किया। आत्मतत्व को सीधा न देख कर अग्नि, सूर्य आदि भौतिक तत्वों के माध्यम से देखा। और उस आत्मतत्व को त्रिलोकी के अग्नि, वायु, सूर्य इन त्रिदेवों में विभक्त किया। उनके मत में अन्य सब देव संस्थानैकत्व व सम्भोगैकत्व के आधार पर इन्हीं तीनों पर आश्रित हैं। इसी प्रकार आगे-आगे विभागीकरण व बहुत्ववाद की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी कि कई आत्मा की नितान्त उपेक्षा कर के देवताओं को अचेतन शक्ति मानने लगे। इनका वेद के सम्बन्ध में दृष्टिकोण भौतिकता व व्यक्तिवाद को ले कर विकसित हुआ।

हमारे विचार में ये दोनों ही सीमातीत अवस्थाएं वेद के सही रूप को चित्रित नहीं करतीं। वेद का सही रूप यह है कि सूत्रों के भी सूत्र उस परम सूत्र परमात्मा को सर्वव्यापी सर्वाधार मानकर अन्य सूत्रात्माओं व सूक्ष्म शक्तियों को वेदों का देवता माना जाये। अत उस परमसूत्र परमात्मा और सूत्ररूप सूक्ष्म शक्तियों के वर्णन प्रसङ्ग में यदि स्थूल आकृति की कहीं आवश्यकता हुई तो उसका दिग्दर्शन कर दिया जाता है। वह आत्मविदों का वेद सम्बन्धी दृष्टिकोण है। परन्तु जब भौतिक दृष्टिकोण को प्रमुख मानकर त्रिदेवों व बहुदेवों पर विचार किया जाता है तब वह कर्मकाण्ड का क्षेत्र आ जाता है। इस सम्बन्ध मे हमारा विचार यह है कि हमे पूर्व मीमांसा के कर्मकाण्ड सम्बन्धी वचनों व नियमों को व्यापक दृष्टिकोण देना चाहिये। और सीमित कर्मकाण्ड की अपेक्षा ब्रह्माण्ड यज्ञों में इनको घटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस कर्मकाण्ड के क्षेत्र में ब्रह्माण्ड के यज्ञ ही नहीं अपितु अध्यात्म के पिण्ड यज्ञ व अन्तर्याग

भी आते हैं। अर्थात् जिन यज्ञों को हम ब्रह्माण्ड यज्ञों में घटाते हैं उन्हें अन्तर्याग में भी घटा सकते हैं। बाह्य यज्ञों में घृत, हवि, गौ, अश्व, अज आदि बाह्य द्रव्य हैं तो अन्तर्याग में ये आन्तरिक द्रव्यों के वाचक होते हैं। आत्मविदों को भी अपनी पूर्वाकाष्ठा व पराकाष्ठा आत्मतत्त्व पर पहुंचने के लिये ये अन्तर्याग करने ही पड़ते हैं और प्रारम्भ में बहिर्याग व तदर्थ द्रव्यों का भी सहारा लेना पड़ता है। यथा आन्तरिक अग्निहोत्र की निष्पन्नता के लिये, आन्तरिक अग्नि के प्रज्वलन के लिये प्रतीक रूप में बाह्य अग्निहोत्र का आन्तरिक ज्योतियों के उद्बोधन के लिये बाह्य ज्योतियों का। छान्दोग्योपनिषद् का चतुष्कल ब्रह्म इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

इस प्रकार वेदों को पढ़ने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग आत्म केन्द्र का मार्ग है अर्थात् सब देवताओं को आत्मा की ही विभूति मानकर उनका अध्ययन करना। और दूसरा प्रपञ्च का मार्ग है। इससे भौतिकता को प्रमुख मानकर वेद-वर्णित विश्व का अध्ययन करना होता है।

इन दो मार्गों के कारण कवि भी दो प्रकार के हैं। एक प्रपञ्च कवि और दूसरे सूत्रकवि। प्रपञ्च कवि वे हैं जो कि इस विश्व प्रपञ्च के एक-एक अङ्ग प्रत्यङ्ग को, स्थूलाकृतियों के वैविध्य, वैशिष्ट्य व उनके विस्तारों को शब्दों द्वारा पूर्ण रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे कवियों का शब्दजाल व शब्दकोष विशाल होता है। उनके वर्णनों मे वस्तुओं की स्थूलाकृति प्रमुख होती है। ये सृष्टि व सृष्टि की परिवर्तनशीलता मे विचरने वाले होते हैं।

विश्व प्रपञ्च में रुचि रखने वाले आधुनिक विद्वानों को ही अधिकतर यह शिकायत है कि वेदों में सब वस्तुओं का वर्णन नही है। विश्व प्रपञ्च में कुशलता से विचरने वाले कवियों में उदाहरण के रूप में हर्षचरित व कादम्बरी के रचयिता बाण को ले सकते है। बाण ने अपने इन अमूल्य ग्रन्थों में एक-एक वस्तु का रूप-चित्रण बड़े कौशल से किया है। बाण का शब्दभण्डार विशाल है। इसके विपरीत दूसरे कवि वे हैं जो वस्तुओं व उनके वैविध्य पर ध्यान न देकर उनमे

ओत प्रोत सूत्र पर ही ध्यान देते हैं। उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे संसार की समग्र वस्तुओं का विस्तार से ज्ञान प्राप्त करें। क्योंकि उनका वर्णनीय विषय या चित्रण का केन्द्रबिन्दु वस्तु नहीं होती। उनका केन्द्रबिन्दु वह सूत्र है जो वस्तुओं में ओत-प्रोत है। इन दोनों प्रकार के कवियों में भी कई स्तर होते हैं। सूत्रों के भी सूत्र उस परम सूत्र की उपलब्धि ही जिनका ध्येय होता है। सब प्रकार की अभिव्यक्तियों, विक्षोभों व विकारों से ऊपर शान्त, अगाध, अतलस्पर्शी, निश्चल नीरव शब्दब्रह्म व परब्रह्म ही जिन के ध्यान का विषय होता है। वे स्वभावतः शब्द की विकृतियों व शब्दजालों में क्यों फंसेंगे ? उनके आदर्श तो निम्न वाक्य होते हैं--

वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्। नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्। (बृ०उ० ४।४।२१)

मृत्योः सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (बृ० उ० ४।४।२१)

ऐसे सूत्रकवि अध्यापन व प्रवचन आदि भी सूत्ररूप में करते हैं। वैदिक साहित्य का प्रमुख भाग सूत्रात्मक होने से हम यह कह सकते हैं कि भारतीय प्रवृत्ति सदा से सूक्ष्म सूत्र, व गहराई में जाने की रही है। परन्तु धन्य हैं वेदव्यास व याज्ञवल्क्य आदि महर्षि जो कि निष्क्रिय प्रपञ्चोपशम ब्रह्म में अवगाहन करते हुए भी सक्रिय ब्रह्म व प्रकृति में भी पूर्णरूप से विचरते रहे हैं। इस प्रकार हमने वेदार्थ के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में विचार किया। इस सम्बन्ध में गुरुकुल कांगडी के आचार्य श्री पं प्रियव्रत जी द्वारा लिखित 'वेद का राष्ट्रीयगीत' की भूमिका तथा श्री पं. धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड द्वारा रचित 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' भी देखें।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदोत्पत्ति-प्रक्रिया

ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया एक अनूठे ही ढंग से वर्णित हुई है। उदाहरणार्थ गोपथ ब्राह्मण के तत्सम्बन्धी प्रकरण का हम यहां संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं वहा आता है—

'प्रजापति ने[१] खूब श्रम किया, अपने को खूब तपाया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके अपने अन्दर से तीन लोकों का निर्माण हुआ। वे तीन लोक पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं। पैरों से पृथिवी का निर्माण हुआ, उदर से अन्तरिक्ष का और मूर्धा से द्युलोक का। अब उसने इन तीनों

---

१ स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यद् भूय आत्मानं समतपत् स आत्मन एव त्रील्लोकान्निरमिमत पृथिवीमन्तरिक्ष दिवमिति। स खलु पादाभ्यामेव पृथिवी निरमिमतोदरादन्तरिक्ष मूर्ध्नो दिवम्। स तॉस्त्रील्लोकानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्तेभ्य श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमताग्नि वायुमादित्यमिति। स खलु पृथिव्या एवाग्नि निरमिमतान्तरिक्षाद्वायुन्दिव आदित्यम्। स तॉस्त्रीन् देवानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्य. सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमत ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेदमिति। अग्ने ऋग्वेद वायो र्यजुर्वेदमादित्यात् सामवेदम्। गो० ब्रा० १।१।६

लोकों को तपाया, उनके अत्यधिक सन्तप्त होने पर अग्नि, वायु और आदित्य इन तीन देवों का निर्माण हुआ। पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य। इसके पश्चात् उस प्रजापति ने इन देवों को तपाया तो इनसे तीन वेदों की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद।'

यह गोपथ ब्राह्मण की वेदोत्पत्ति-प्रक्रिया है। इस पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ब्राह्मण-ग्रन्थ अग्नि, वायु और आदित्य इन तीन भौतिक शक्तियों से वेदोत्पत्ति मानता है। यही भाव अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों[१] में भी उपबृंहित हुआ है। उपर्युक्त ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रकरणानुसार प्रजापति से जिन लोकों देवों तथा वेदों आदि का निर्माण हुआ है।' उनमें एक विशिष्ट प्रकार का संबन्ध है जो कि तालिका में इस प्रकार रखा जा सकता है।

---

१ श० प० ११।५।८, ऐ० ब्रा० ५।३२, षड्विंश० ४।१

१	लोक –	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक
२	देवता–	अग्नि	वायु	आदित्य
३	वेद –	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
४.	सवन –	प्रात सवन	माध्यन्दिनसवन	तृतीयसवन

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त प्रकरण का सार हमने ऊपर प्रदर्शित किया । अब विचारणीय यह है कि इसकी व्याख्या किस प्रकार की जाए ? शास्त्रो में इनके इस पारस्परिक संबन्ध को किस दृष्टि से सोचा गया है–इस पर हम केवल ऊहापोह करते है और यह भी देखने का प्रयत्न करते है कि अग्नि, वायु, आदित्य आदि जो मानव ऋषि हैं, जिनके हृदयों में प्रारम्भ में चार वेद प्रादुर्भूत हुए, उनका इन ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित अग्नि, वायु और आदित्य आदि भौतिक शक्तियों से क्या सम्बन्ध है ?

अग्नि से ऋग्वेद की उत्पत्ति

ऐतिहासिक विद्वान् यह समाधान कर सकता है कि अग्नि से ऋग्वेद की उत्पत्ति का भाव यह

है कि कोई मनुष्य ऋषि अपनी परीक्षण-शाला में बैठा हुआ पृथिवी के सब पदार्थों का परीक्षण व निरीक्षण कर रहा था, उसने यह देखा कि पृथिवी पर रहने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, औषधि, वनस्पति आदि जितने भी स्थावर व जगम प्राणी हैं, उन सबकी सत्ता अग्नि के कारण है। यदि पृथिवी पर अग्नि न रहे तो सब कुछ विनष्ट हो जाये। इसलिये इस ऋषि ने प्रति पदार्थ में अग्नि की ही भिन्न-भिन्न शक्तियों को कार्य करता देख कर विभिन्न ऋषि (दृष्टिकोण) नामों से कविताएं रच डालीं जो कि ऋग्वेद नाम से प्रसिद्ध हुई और उस ऋषि का अपना नाम भी अग्नि हो गया।

अपौरुषेयवादी इसका समाधान इस प्रकार कर सकता है कि हमें भौतिक शक्तियों व परमात्मा में अभेद बुद्धि व एकत्व का व्यवहार कर लेना चाहिये। जिस प्रकार देवदत्त कहने पर हम देवदत्त के शरीर और उसकी आत्मा को पृथक् न कर एक रूप मे ग्रहण करते और एक व अभिन्न मान कर ही व्यवहार करते है। उसी

प्रकार वेदों मे भौतिक शक्तियो को भगवान् का शरीर माना गया है। मनुष्य की तरह उन भौतिक शक्तियों मे और भगवान् मे व्यवहार की दृष्टि से कोई पार्थक्य नहीं है। वेदों का भी ऐसा ही अभिप्राय प्रतीत होता है। पुरुष सूक्त द्वारा परम पुरुष का वर्णन करते हुए अगले अध्याय मे 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा' इत्यादि मन्त्रों द्वारा परमात्मा तथा उसके अग्नि आदि शरीरावयवों से एकत्व का निर्देश किया गया है। इस अवस्था मे भौतिक शक्तियां केवल भौतिक नहीं रहती।

'स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपाम्०, उद्वयं तमसस्परि०'

आदि मन्त्रों द्वारा प्रभात वेला मे उदय होते हुए सूर्य के सम्मुख यदि हम उपस्थित होते है तो यह सूर्योपासना भौतिक सूर्य की उपासना नहीं है। अग्निहोत्र वेला मे 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि०' इत्यादि मन्त्रों द्वारा जब हम अग्नि का उद्बोधन करते है तो यह केवल भौतिक अग्नि की

परिचर्या नहीं है । इन सबके पीछे सर्वनियन्ता भगवान् निहित है। इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों की निराली वर्णन-शैली की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि अग्नि रूपी शरीर में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान भगवान् ने अग्नि ऋषि को भौतिक आदि अग्नियों में ओतप्रोत ऋग्वेद के मन्त्रों का दर्शन कराया। इसलिये यदि कोई यह भी कहना चाहे कि भौतिक अग्नि से मन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं तो इसमे कोई ऐसी विलक्षणता नहीं है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उसने भगवान् के अग्नि शरीर मे व्याप्त मन्त्रों को परम-आत्मा से उद्बुद्ध होता हुआ न समझ कर उसके अग्नि शरीर से प्रादुर्भूत होता हुआ समझ लिया है। अग्नि तो माध्यम है। जिस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक वाणी मुख व प्राण आदि भौतिक साधनों द्वारा प्रकट की जाती है। उसी प्रकार भगवान् की वाणीरूप वेदों को प्रकट करने वाले अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरस (अंगरस) ये चार भौतिक शक्तियां चतुर्मुख ब्रह्मा के चार मुख हैं जिनको भगवान् वेदों की प्रारम्भिक ध्वनि के

लिये साधन बनाता है। कहा भी है।

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
>
> (श्वेताश्वतर उप० ६।१८)

इस प्रकार परम ब्रह्म को पुरुष रूप में कल्पना कर प्रकृति और ब्रह्म का एकत्व रूप में वर्णन करना वेदादि शास्त्रों मे इतने व्यापक रूप में पाया जाता है कि इसको बिना समझे ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा अन्य शास्त्रों के रहस्यों को स्पष्ट रूप में समझना असंभव होगा। ब्रह्मा के मुखों से उच्चरित ऋगादि द्वारा प्रकृति के घटकों का जब निर्माण शुरू हुआ तब वह मन्त्रध्वनि और प्रकृति के परमाणु तद्रूप हो कर ऋचा आदि नामों से उच्चरित होने लगे। इसी दृष्टि से कहा गया है 'ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहुः' तै० ब्रा० ३।१२।६।१ अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में सब मूर्त पदार्थों की मूर्तियां व आकृतियां ऋचाओं से ही निर्मित हुई है। कई इसका भाव यह भी ले सकते है कि ऋचाएं स्थूलाकृति में उपादान कारण

है। इसी भाव की पुष्टि निम्न उद्धरणों से भी हो रही है—

> भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयं (पृथिवी) लोकोऽभवत्।
>
> (षड्विंश ब्राह्मण १।१५)

> भूरित्यृग्वेदस्य रसमादत्त। सेयं पृथिव्यभवत्।
>
> (जै० उ० १।१।३)

पृथिवी पर इन मूर्तियों की प्रमुखता है। इन मूर्तियों का निर्माण व परिपाक अग्नि करता है। इसलिये यह अग्नि पृथिवी का अधिपति होते हुए ऋचाओं की ध्वनि में भी कारण बनता है। मूर्ति में तक्षण होता है। ऋचाएं मूर्ति में तद्रूप हैं। अत ऋचाओं के निर्माण में मूर्तियों के सदृश तक्षण शब्द का प्रयोग कर दिया गया है (यस्मादृचोऽपातक्षन्)। यदि हम वेदों पर सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात करे तो हम यह पाते हैं कि वेद में भगवान् का वर्णन प्रकृतिरूपी शरीर के सहित है और वह एक रूप में है। और जो अग्नि, इन्द्र

आदि देवताओं के मन्त्रों को अग्नि व विद्युत् आदि भौतिक शक्तियों में घटाया जाता है और अग्नि रूप परमात्मा में भी तो वह व्यत्यय आदि का आश्रय लेकर ही किया जाता है। पर वेद ने तो एक ही मान कर वर्णन किया है। अतएव हम यह कह सकते है कि भगवान् की वाणी प्रकृतिक तत्वों के सहारे सर्वत्र प्रसारित होती है और उन्हीं के माध्यम से ऋषियों के हृदय में आविर्भूत होती है। इसी भाव को दूसरे शब्दों मे निम्न श्लोक मे प्रकट किया है—

अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रय ब्रह्मसनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

इस प्रकार अग्नि से ऋग्वेद की उत्पत्ति-प्रक्रिया क्या हो सकती है, उसका तात्पर्य क्या है इत्यादि समस्याओं को त्रैतवाद की दृष्टि से स्पष्ट करने व समन्वित करने का हमने प्रयत्न किया। इसी भांति अन्य वेदों के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है।

वेदोत्पत्ति का माध्यम गायत्री (सावित्री)

वेदों व ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदोत्पत्ति का माध्यम सावित्री व गायत्री को भी बताया गया है। सावित्री व गायत्री में परस्पर कुछ भेद है; वह क्या है? इस सम्बन्ध मे हम यहां कुछ नहीं कहना चाहते। हमारा विचारणीय विषय यह है कि सावित्री से वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इस पर अब हम संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं।

सावित्री व गायत्री से वेदों की उत्पत्ति हुई है ऐसा वेदादि शास्त्र प्रतिपादन करते हैं। स्वयं वेद में 'गायत्री' को वेद माता[१] कहा गया है। 'वेदमाता' की व्युत्पत्ति इस भांति करनी चाहिये– 'वेदाना माता'–अर्थात् वेदों की माता यह

---

१. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्। आयु प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्य दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

अथर्व० १६।७१।१

व्युत्पत्ति इसलिये उचित है, क्योंकि इस मन्त्र का देवता गायत्री है। आर्ष परम्परा भी यही बताती है। गोपथ ब्राह्मण १ १.३४-३८ में सावित्री की महिमा को दर्शाते हुए कहा है—

वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्ते।
(गो ब्रा १.१ ३८)

अर्थात् यह सावित्री वेदों की माता है। अब विचारणीय यह है कि सावित्री व गायत्री से जो गायत्री मन्त्र का ग्रहण किया जाता है, उससे सम्पूर्ण वेदों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में कुछ विचार हमने वेदों के साक्षात्कार पर लिखते हुए किया है। कुछ इस प्रकार है—

गोपथ ब्राह्मण १.१ ३३ में सविता और सावित्री का विवेचन किया गया है। जिस प्रकार पुरुष और प्रकृति, पति-पत्नी और प्राण-रयि आदि द्वन्द्व हैं, उसी प्रकार सविता और सावित्री हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ में इस समग्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड को सविता और सावित्री मे बांटा हुआ है। जिस समय हम गायत्री मन्त्र का जप आदि करते हैं,

उस समय समग्र संसार के उत्पादक व प्रेरक सविता भगवान् से यह प्रार्थना करते है कि हमारी बुद्धियो को तू प्रेरित कर। यह सविता अपनी वेदवाणी द्वारा समग्र संसार को प्रेरित कर रहा है, उसकी वाणी हमारी बुद्धि को भी प्रेरित करे। भगवान् के जिस क्षेत्र के सविता व सावित्री रूप का हम जपते समय ध्यान करेंगे, तद्रूप मे समाविष्ट मन्त्र अर्थात् ज्ञान हमारी बुद्धि मे विकसित होगा। यही वेदों का गायत्री मन्त्र द्वारा आविर्भाव है। इसी भांति गोपथ ब्राह्मण की १।१। ३३–३६ कण्डिकाओं मे वेदों के आविर्भाव को अपनी विशिष्ट शैली में प्रदर्शित किया गया है।

वेदोत्पत्ति का माध्यम ऋषि-प्राण

'ऋषि रहस्य' नामक पुस्तक मे हम यह देख चुके हैं कि वेदान्तर्गत शब्दों को लेकर मानव ऋषियों के नाम रखे गये है। आर्ष परम्परा के अनुसार वेद नित्य है और मन्त्रार्थ म सहायक है यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह शका पैदा होती है कि वेदों के इन

विशिष्ट शब्दों को ऋषि संज्ञा क्यों दी गई है? इसका समाधान ऋषि शब्द पर विचार करने से हो सकता है। ऋषि (दर्शनात्) मन्त्रों को दिखाने वाले हैं। एक प्रकार से यह उपनेत्र (एनक) हैं जिनको पहिन कर मन्त्रों को देखना चाहिये। इसलिये ऋषि-ज्ञान मन्त्रार्थ में अत्यन्त सहायक है। इसी दृष्टि से प्राचीन परम्परा में[१] ऋषि ज्ञान को अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि वेद के ऋषियों पर विचार करने के लिये मानव ऋषियों के इतिहास को टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव ऋषि इन उपनामों व उपाधियों को धारण करें या न करें, इससे कुछ आता जाता नहीं। कहने का भाव यह है कि इन उपनेत्रों व दृष्टियों को मानवीय चोला पहनाया गया है। इस अवस्था में इन ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता

---

१ तत्रार्षदेवतयोरर्थविबोध उपयुज्यमानत्वात्।

स्कन्द।

ऋषिनामार्थविज्ञानाद् ऋचामर्थविनिश्चयः।

वेंकट माधव।

मानें या दृष्टा माने, बात एक ही है । ये सब प्रयोग गौण प्रयोग होंगे । इसलिये हम यह कह सकते हैं कि ऋषि प्राण विभिन्न दृष्टियां हैं, उपनेत्र है, जो कि मन्त्रो को दिखाते है और भगवान् की ओर से नियत है। हम जैसे सामान्य जनों की मन्त्रार्थ–दृष्टि ऋषि-पद को नहीं प्राप्त कर सकती। जिन मन्त्रों के ऋषि एक से अधिक है या विकल्प है, वहां उन मन्त्रो के देखने को दृष्टियां भी अनेकों है, ऐसा हमें मानना चाहिये। अब हम कुछ विस्तार से ऋषि शब्द पर विचार करते हैं।

ऋषि शब्द के अर्थ व उसके स्वरूपस्पष्टी-करणार्थ हमे गति (ऋषगतौ), अतीन्द्रियार्थ दर्शन व मन्त्र दर्शन (ऋषि दर्शनात्) और ऋषि नामक प्राण (प्राणा वाव ऋषयः) इन तीनो का समन्वय करते हुए विचार करना चाहिये । ये तीनों ही ऋषि के ऋषित्व मे निर्णायक हैं। मन्त्र-दर्शन व अतीन्द्रियार्थ दर्शन से मनुष्य ऋषि बनता है । भग-वान्के ईक्षण द्वारा उसके ज्ञान में सन्निहित वेद आदि वाक् द्वारा गतिशील हुए। उनकी गति का माध्यम

ऋषि-प्राण बने। आद्य अग्नि नामक ऋषि-प्राण ऋचाओं का माध्यम बना। आद्य वायु रूप ऋषि प्राण यजुर्मन्त्रों का माध्यम बना। आदित्य प्राण साम-मन्त्रों का और अथर्वा तथा आद्य अंगिरस प्राण अथर्ववेद का माध्यम बना। ये आद्य प्राणों की सूक्ष्म तरंगे हैं जो कि वेद ध्वनियों को चहुं ओर बिखेरती हैं (प्रकीर्णायशेरन्)। जिन मनुष्यों में ये ऋषि नामक आद्य प्राण उद्बुद्ध हो जाते हैं, वहाँ वेद भी आविर्भूत हो जाते हैं।

इन आद्य ऋषि-प्राणों को वेदादि शास्त्रों में असत्[1] कहा गया है। अथवा ये असत् वर्ग में आते हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। असत् सृष्टि-निर्माण में सबसे प्रारम्भिक प्राण हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म व अत्यन्त सात्विक रूप वाले हैं। इनमें गति, दीप्ति तथा आदान प्रदान गुण विद्यमान

---

१ असद् वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः, किं तद् असदासीदिति। ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्त-दाहुः। के त ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुराऽस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषस्तस्मात् ऋषयः। श ६. १ १. १।

होता है और इन असत् प्राणों से ही बृहन्त[1] नाम वाले देव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार असत् से असत् वर्ग की सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। इन असत् प्राणों द्वारा सत् तत्त्व का तक्षण[2] प्रारम्भ होता है। प्रश्न यह है कि इन असत् प्राणों की ऋषि संज्ञा कब होती है? जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में इसका समाधान इस प्रकार किया गया है। देवप्राण[3] की गति ऊर्ध्व की ओर होती है गान्धर्व व अप्सराओं की तिर्यक् गति होती है और ऋषि-प्राण की गति अर्वाङ् अर्थात् ऊपर से नीचे को सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर होती है। इसी प्रकार हमारे शरीर में ये प्राण जब दिव्यता को स्थूल शरीर में उतार कर लाते हैं, तब ये प्राण ऋषि-प्राण कहलाते हैं। मनुष्य भी उसी समय ऋषि बनता है जब उसकी दिव्य शक्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियां व स्थूल शरीर द्वारा प्रकाशित होती है।

---

१ बृहन्तो नाम ते देवा येऽसत. परिजज्ञिरे।

अथर्व १०. ७ २५।

२ असतः सद् ये ततक्षुः। तै. आ.।

३ जै उप. १ १७. ३।

वहां इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि सामान्य जनों के प्राण ऋषि-प्राण नहीं होते। ये महान् तपस्या व अटूट साधना के अनन्तर उद्‌बुद्ध होते, प्रकट होते या प्रविष्ट होते हैं। ऐसी स्थिति में जमदग्नि, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि दिव्य-शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों व नेत्रों से दिखने वाले मन्त्रों को हम सामान्य जन कैसे देख सकते हैं? उनकी सत्यता को कैसे जांच सकते हैं? यही एक विवादास्पद प्रश्न है जो कि वेद सम्बन्धी सभी समस्याओं का मूल आधार है।[1] अथर्व. ६ ४१ ३ में इन ऋषि-प्राणों से प्रार्थना की गई है कि 'हमारे शरीर के सूक्ष्मीकरण से उत्पन्न हुए (तन्वस्तनूजा=तनू=तनूकरणात्) और इस शरीर के रक्षक ये दिव्य शक्ति-सम्पन्न अमरण-धर्मा प्राण हम मरणधर्मा मनुष्यों से

---

१ मा नो हासिषु ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजा. । अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतर जीवसे नः ।

अथर्व ६. ४१. ३ ।

सम्पर्क करें। हमें छोड़ कर न जावें जिससे कि हम अपनी आयु को दीर्घ और व्यापक व विस्तृत कर सकें।'

इस प्रकार सूक्ष्म व दिव्य बनकर मानव के प्राण ऋषित्व को प्राप्त करते हैं और वेदों के दर्शन व श्रवण मे कारण बनते है।

ऋषि एक विशिष्ट गति

ये ऋषि नामक प्राण एक विशिष्ट गति वाले (ऋष गतौ) होते हैं। यह गति सृष्टि के आदिम असत् नामक प्राणों की होती है। इसलिये यह गति अव्याहत, सरल व सीधी होती है। जिस समय सृष्टि का निर्माण हो नाना रूप पैदा हो जाते हैं तो उस समय की गति सरल व सीधी नहीं होती। क्योंकि वह इधर-उधर टकराती है। उसमें समता, ऋजुता आदि नहीं होती। उस समय सामान्य जन का मन विविध पदार्थों व विषयों पर उछाल मारता फिरता है। कभी कहीं बैठता है तो कभी कहीं। इस कारण ऋषित्व-प्राप्ति के लिये मानव-ऋषि वन मे जाकर निवास किया

करते थे। आधुनिक काल की भौतिक उन्नति इस दृष्टि से सामान्य जन के आध्यात्मिक उत्थान मे सहायक न हो कर बाधक ही सिद्ध हुई है। क्योंकि बच्चो व युवाओं के कोमल मनो को वह इधर-उधर उछालती रहती है। उनके मन ऋजु व समगति में नहीं रहते।

इस से हम यह परिणाम निकाल सकते है कि सरल प्रकृति के व्यक्ति, सीधे-साधे व्यक्ति ही ऋषि बन सकते है। वेदमन्त्रों के सच्चे अर्थ उन में ही अवतरित व उदबुद्ध हो सकते है। जो कुटिल प्रकृति व कूट राजनीति में रुचि रखनेवाले व्यक्ति है वे त्रिकाल में भी ऋषि नहीं बन सकते। मनुष्यों में यह ऋषि-गति बहिर्मुखी अवस्था में नहीं होती। अन्तर्मुखी अवस्था में ही होती है क्योंकि अन्तर्मुखी अवस्था मे हृदयाकाश में विचरते हुए मन के इधर-उधर टकराने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। इसलिये ऋषित्व के इच्छुक व्यक्ति को भगवान् की असत् नामक आद्या शक्ति को अपने अन्दर उद्बुद्ध करने व प्रदीप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में असत्

प्राणों को प्रदीप्त करनेवाला इन्द्र[१] (दिव्य मन) बताया गया है। इन्द्र द्वारा ये असत् प्राण प्रदीप्त हो कर अतीन्द्रियार्थ दर्शन व दिव्य दर्शन करने वाले बन जाते हैं। मन्त्रों के सत्य अर्थ व मन्त्रों की प्राकृतिक घटकों में व्यापकता व चरितार्थता को वे सत्यरूप मे देख लेते हैं। ऋषि कोटि के व्यक्ति के लिये परोक्ष प्रत्यक्ष बन जाता है और वे पारोवर्यवित् बन जाते हैं।

---

१ यदैन्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्।

श० प० ६।१।१।२

वेदों की माता (वाक्)

वेदों की भाषा को हम अपौरुषेय मानते हैं अर्थात् यह भाषा ईश्वरप्रदत्त है, मानवनिर्मित नहीं। आधुनिक समय में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकों मत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं जिन में निम्न पाश्चात्य विद्वान् प्रमुख हैं— ग्रिम, डार्विन, हम्बोल्ट, श्लाइखर, रेनन, मैक्स-मूलर, स्पेंसर, स्वीट टेलर आदि अनेकों विद्वान् उल्ले-खनीय हैं। वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त (Divine origin) को स्वीकार करते हैं वेदों की अन्तःसाक्षी भी इसी तथ्य को सिद्ध करती है। परन्तु अनेकों विद्वान् इस सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं जिनके कथन का सार यह है कि ईश्वरप्रदत्त कोई भाषा नहीं है, ऐसा मानना अन्धविश्वास-मात्र है। आज इस मत को कोई भी नहीं मानता। यदि भाषा ईश्वरप्रदत्त होती तो कदा-चित् आरम्भ से ही वह पूर्णविकसित होती, साथ ही सर्वत्र एक होती किन्तु ऐसी बात है नहीं—

इत्यादि उक्तियां आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की हैं। इस सम्बन्ध में हम यहां कुछ नहीं कहना चाहते। इतना स्पष्ट है कि भाषा की उत्पत्ति में भावाभिव्यञ्जक, अनुकरणात्मक, प्रतीकात्मक तथा इंगित व सम्पर्क आदि जितने भी सिद्धान्त प्रचलित है ये सब भी केवल बौद्धिक क्रीड़ामात्र हैं, कल्पना पर अधिक आधारित है। निश्चया-त्मक रूप में दावे से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त बौद्धिक स्तर से ऊपर का है। अतिमानव से इसका सम्बन्ध है जिसकी सत्ता वेदादि शास्त्रों में पग-पग पर आती है। यों तो मनुष्य की पूर्व कड़ी में बन्दर की सत्ता का सिद्धान्त भी बौद्धिक स्तर से ऊपर का है, जिसके सम्बन्ध में यह कह कर छुट्टी हो जाती है कि विशिष्ट परिस्थिति में ही बन्दर से मनुष्य का निर्माण हुआ अब वह परिस्थिति नहीं रही है।

यही युक्ति व उक्ति यदि इस सिद्धान्त पर लागू कर दें तो इस में आश्चर्य नहीं होना

चाहिये कि आदिसृष्टि में ही अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा आदि चार अतिमानवों (ऋषियों) को वैदिक वाक् की उपलब्धि हुई थी, जोकि आधुनिक मनुष्यों को नहीं होती । पर यह हमारा कथन अधूरा ही है, हम इतना और कह सकते है कि ऋषित्व प्राप्त होने पर भगवान् से अब भी वैदिक छन्दों का एक श्रवण हो सकता है । ये यौगिकप्रक्रिया द्वारा सम्भव है जिसका क्रमिक-साधन-सोपान धर्मशास्त्रों व योगदर्शन आदि में विस्तार से दर्शाया गया है । हम केवल बौद्धिक पुरुष है जब कि इस दिव्य भाषा के श्रवण के लिये बुद्धि से ऊपर उठना होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक वाक् के समग्र रूप को समझने के लिये आधुनिक भाषा-विज्ञान बिल्कुल सहायक नहीं है। वैदिक वाक् को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करने के लिये अध्यात्म व योग का सहारा लेना अत्यावश्यक है । छान्दोग्योपनिषद् में आता है कि 'स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति०' अर्थात् जो व्यक्ति वाक् को ब्रह्मरूप से उपासना करता है अर्थात् वाक्

को ब्रह्म के समान सर्वव्यापक मान कर उसकी उपासना किया करता है, उसका फल यह होता है कि जहां-जहां जैसी-जैसी वाक् संसार मे उपलब्ध होती है, वहां-वहां उस-उस में उसका यथेष्ट विचरण होजाता है। इसी विज्ञान को दृष्टि मे रख कर महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में लिखा है—"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सकरस्तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्" अर्थात् शब्द, अर्थ और प्रत्यय इनके परस्पर संश्लेषण व विभाजन करने तथा इन विभागों पर संयम करने से सब प्राणियों की बोलियों का ज्ञान हो जाता है। यह भी 'वाचं ब्रह्मेत्युपासीत' की साधना का एक मार्ग है। इसी भांति वैदिक वाक् की सूक्ष्मताओं को समझने जानने, व हृदयङ्गम करने की भी एक विशिष्ट प्रक्रिया व साधना है जिसका अवलम्बन करने का शास्त्रों में विधान हुआ है—

उस विशिष्ट प्रक्रिया का संकेत हम समय-समय पर करते जायेंगे। इसका कुछ संकेत हमने 'वेदों का साक्षात्कार' नामक प्रकरण मे भी किया है अब हम वेदों की माता का क्या स्वरूप है इस

पर विचार करते हैं।

वेदों के नित्यत्व व अपौरुषेयत्व पर विचार करते हुए हमें वाक् के स्वरूप पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि वेद भी वाक् रूप है। वाक् एक गहन विषय है। इस का स्पष्ट रूप में विवेचन व विश्लेषण बिना ऊंची भूमिकाओं पर आसीन हुए तथा बिना आर्षचक्षु प्राप्त किये नहीं हो सकता, फिर भी हम शास्त्र-वचनों के आधार पर ऊहापोह कर के इसका कुछ-कुछ स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। वेदों में वाक् की महिमा अनेकों रूप में प्रदर्शित हुई है। वहां वाक् के[1] चार रूपों की ओर भी निर्देश है जो कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से प्रख्यात है। मनुष्य में वाक् के ये चारों रूप होते हैं। परन्तु वह केवल वैखरी रूप को ही जानता है।

वाक् के तीन रूप अति सूक्ष्म हैं जो कि उसके आन्तरिक गुह्य स्थानों मे प्रच्छन्न रूप मे

---

१ चत्वारिवाक्परिमिता पदानि।

ऋ० १। १६४। ४५

निहित होते हैं। उनकी अनुभूति व ज्ञान कोई विरला मनीषी ही कर सकता है। उनका शास्त्रों में जो विवेचन हुआ है, उससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वेदों के अपौरुषेयत्व व नित्यत्व के निर्णय में वाक् के वैखरी रूप, शब्दों की स्थूलाकृति अर्थात् विभक्ति, प्रत्यय व शब्दरचना आदि के आधार पर वेदों के सम्बन्ध में बड़े-बड़े निर्णय कर डालना जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, ठीक नहीं है। सर्वप्रथम हमें यह चाहिये कि वाक् के उन प्रच्छन्न रूपों को भी प्रत्यक्ष करें और वहां वेदों की सत्ता का देखने का प्रयत्न करें। मनीषी[१] लोग अपनी आर्ष दृष्टि से वाक् के उन सूक्ष्म व प्रच्छन्न रूपों को देख लेते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि साधारण बुद्धिवाले हम मनुष्य वेदों के अपौरुषेयत्व व नित्यत्व आदि मूल सिद्धान्तों पर अपने अधूरे निर्णयों को नहीं थोप सकते। इसका अधिकार केवल उन्हीं को

---

१ अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥
वाक्यपदीय १। ३८

है जिन्होंने योग-साधन के बल से वाक् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को आर्षचक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है।

शास्त्रों के ये उद्‌गार है कि सर्व लोकों की उत्पत्ति वेदों से हुई है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेदों की उत्पत्ति संपूर्ण भुवनों से पहिले हो चुकी थी। यदि दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर इन शास्त्र-वचनों की पुष्टि हो जाती है तो यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि वेदों की उत्पत्ति में मनुष्य कारण नहीं है। इसलिये हमारे जो हेतुवाद हैं या उनपर आश्रित अनुमान है, वे सब असत्य हो सकते हैं, और योगीजनों के वचनों को बाध नहीं सकते। महर्षि कपिलाचार्य कहते हैं कि वेद-रचना की योग्यता मुक्त और अमुक्त पुरुषों में से किसी में नहीं है (न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् सांख्य ५।४७) यह कथन वही कर सकता है जो कि मुक्त और अमुक्त दोनों प्रकार के मनुष्यों की योग्यता को जानता हो। जिसे मुक्ति का ज्ञान नहीं वह मुक्त पुरुष की योग्यता के संबन्ध में क्या कह सकता है ? इसी दृष्टि से

हमारा यह कथन था कि जिन साधनों का अव-लबन कर ऐतिहासिक लोग वेदों में इतिहास आदि का वर्णन व उन्हें ऋषि–रचना मानते है, उन्हीं साधनों को ग्रहण कर उनका खण्डन अति दुष्कर है।

अब हम शास्त्र-वचनों के आधार पर उप-र्युक्त कथन की पुष्टि मे कुछ ऊहापोह करते है।

वाक् की शक्ति

वैदिक साहित्य में वाक् की महान् व अद्भुत महिमा का बखान हुआ है। उदाहरण रूप में निम्न वाक्य व स्थल देखे जा सकते है—

१ विराड् वाक्। अथर्व० ६।१५।२४, श० प० ३।५।१।३४ यामाहु र्वाचं कवयो विराजम्। अथर्व० ६।२।५ समग्र संसार की निर्मात्री विराट् वाक् ही है।

२ वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता।
ये सम्पूर्ण भुवन वाक् में अर्पित है।

३ यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋ० १०।११४।८ जितना ब्रह्म है उतनी ही

वाक् है ।

४ अथो वागेवेद सर्वम् ।

यह समग्र संसार वाक् ही है ।

५ तद् यत्किञ्चार्वाचीनं ब्रह्मणस्तद् वागेव सर्वम् ।

जै० उ० १।१३।१।३

ब्रह्म से जो कुछ अर्वाचीन है वह सब वाक् ही है ।

६ वाग् वै विश्वकर्मर्षिः वाचा हीदं सर्वं कृतम् ।

श० प० ८ १ २।९, यजु० १३।५८

अर्थात् वाक ही विश्वकर्मा ऋषि है, क्योंकि वाणी ने ही यह सब संसार रचा है ।

७ वाग् वै त्वष्टा–ऐ० २।४

ससार का तक्षण करने वाला त्वष्टा वाक् ही है ।

८ 'अयमेवेदमग्र आकाश आसीत् । स उ एवाप्येतर्हि । स यः स आकाशो वागेव सा । तस्मादाकाशाद्वाग् वदति । तामेता वाचं प्रजापतिरभ्यपीडयत् । तस्या अभिपीडितायै रसः प्राणेदत् । त एवेमे लोका अभवन् । स

इमांल्लोकान् अभ्यपीडयत् ।'

जै० उ० १।७।१।१-४

प्रजापति ने आकाश में अभिव्याप्त इस वाक् को जब पीडन किया तो उस के रस से द्युलोक आदि की उत्पत्ति हुई। अगले पीडन से अग्नि, वायु और आदित्य इन तीन देवों का आविर्भाव हुआ। त्रयी विद्या भी इसी वाक् की उपज है। इसी प्रकार तीनों व्याहृतियां और अविनाशी भगवान् का वाचक ओ३म् इसी वाक् के प्रताप से आविर्भूत होते हैं।

इस प्रकार शास्त्रीय वचनों के आधार पर हमने वाक् की महिमा का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया। अब हम वाक् के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया पर विचार करते हैं।

वाक् का स्वरूप और उत्पत्ति-प्रक्रिया

आदिम वाक् ही परावाक् है। इस संबन्ध में हम अर्द्धपौरुषेयवाद पर लिखते हुए कुछ विचार प्रकट कर चुके हैं। वाक् का परा रूप ही ब्रह्माण्ड और पिण्ड की समग्र वाक् का आदि कारण है।

परा मातृशक्ति है। सम्पूर्ण शब्द-सृष्टि व अर्थ-सृष्टि का यही मूल कारण है। इस में इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति तीनों एक रूप हुए-हुए हैं। यह सर्वव्यापिनी होते हुए भी प्रमुख रूप से परमपुरुष के त्रिपाद् में रहती है। और अपरा परमपुरुष के एकपाद में। मनुष्य के अन्दर यह परावाक् आन्तर ज्योति रूप में विद्यमान होती है। यह प्राचीन मन्तव्य है कि मनुष्य में यह परावाक् मूलाधार चक्र में होती है, पश्यन्ती नाभि देश में, मध्यमा वाक् हृदय में और वैखरी कण्ठप्रदेश में होती है। इस परावाक् की अनुभूति व संवेदन भेद शून्य पूर्ण की होती है। वहां पहुच कर अहं त्वं का भेद नहीं रहता। देश, काल सब विलुप्त हो जाते हैं।

वाक् की उत्पत्ति-प्रक्रिया

अब विचारणीय यह है कि वाक् की उत्पत्ति-प्रक्रिया क्या है ? इस पर हम संक्षेप में विचार करते है।

भगवान् में जब सृष्टि-निर्माण की कामना

उत्पत्ति हुई (कामस्तदग्रे–समवर्तत) तो उसने तप किया। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्या-वस्थापन्न प्रकृति[१] ऋत और सत्य इन दो भागों व अवस्थाओं मे विभक्त हो गई। ऋत अवस्था गति (Becoming) की सूचक है। और सत्य स्थिति (Being की। ऋत प्रकृति का गत्यात्मक रूप है और सत्य स्थित्यात्मक। प्रकृति की ऋत अर्थात् गत्यात्मक अवस्था को हम महत्तत्व व महद्ब्रह्म कह सकते हैं। क्योंकि प्रकृति से अगली अवस्था महत्तत्व व महद्ब्रह्म की होती है। दिव्य दृष्टि स्वामी दयानन्द ने ऋत को महत्तत्व माना है, (संस्कारविधि)। इसी को शास्त्रों में असत् सत् आदि कई क्रमिक नामो व रूपों मे अभिव्यक्त किया गया है।

प्रारम्भ मे यह प्रकृति इन दो भागों मे विभक्त हो गति करने लगती है तो उस समय विश्वकर्मा भगवान् अपने अन्दर से इस विश्व को बाहर की ओर धौंकता है (संकर्मार इवाधमत्)

---

१ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।

एक[1] मन्त्र तो वाक् को ही विश्वकर्मा ऋषि की संज्ञा देता है। यह वाक् जो विश्व की रचना का आदि कारण है, ऋत गति के होने पर पैदा होती है। इसी भाव को निम्न मन्त्र में अभिव्यक्त किया गया है। 'वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य' अर्थात् ऋत की प्रथमोत्पत्ति यह अविनाशी वाक् है। धौंकने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर सबसे पूर्व विश्वकर्मा भगवान् का मुख विवृत होता है अर्थात् खुलता है। मुख के विवृत होने व खुलने से जो ध्वनि होती है उसे हम 'अ' रूप में प्रकट कर सकते हैं क्योंकि मुख के खुलने पर 'अ' ध्वनि का होना स्वाभाविक है। अकारोच्चारण के समय मनुष्य का भी मुख खुल जाया करता है। अतएव सक्षेप में हम यह कह सकते है कि जब आत्मतत्व प्रसुप्त व शान्त था, तो प्रकृति भी शान्त, प्रसुप्त व साम्यावस्थापन्न थी। परन्तु जब भगवान् में सिसृक्षा हुई तो उसका मुख विवृत हुआ। अकार इस विवृति की ही अनुकृति है। यह अकार ही सम्पूर्ण वाक् है।

---

१ यजु० १३।५८, श० प० ६।१।२।९

ऐतरेयारण्यक में[१] आता है कि – 'जो उस आदि मूल वाक् को जानता है, जिसका यह विकार है वह सम्प्रतिविद् कहलाता है। वह वाक् अकार है और यही समग्र वाक् है। यह 'अ' वाक् स्पर्श और ऊष्माओं (अग्नि) द्वारा अभिव्यक्त होती हुई नानारूपों को धारण कर लेती है।' यह धौंकने की प्रक्रिया 'अ' से ही पूर्ण नहीं होती इस में दो वर्ण और आ मिलते हैं। वे इ, उ वर्ण हैं। इस धाकने की प्रक्रिया को अ, इ, उ ये तीन मूल वर्ण भलीभांति स्पष्ट करते हैं। सर्वप्रथम 'अ' के उच्चारण में मुख विवृत होता है तदनन्तर 'इ' के उच्चारण में तालु सहित मुख संकुचित होता है, और फिर 'उ' के उच्चारण में ओष्ठ संकुचित होता है। इन तीन वर्णों को यदि हम बार-बार निरन्तर उच्चारित करें तो यह प्रतीत होगा कि धौंकनी प्रक्रिया से कोई शक्ति बाहर की ओर

---

१ यो वै तां वाच वेद यस्या एष विकारः स सम्प्रतिविदकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यंज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति ।
ऐ० आ० २।३।६

प्रवाहित की जा रही है। यह धौंकने की प्रक्रिया का एक रूप है। 'सं कर्मार इवाधमत्' की यह व्याख्या है। और सृष्टि की अभिव्यक्ति इसी प्रक्रिया से होती है। इसी से सांख्यसिद्धान्त का सत्कार्यवाद प्रचलित हुआ है। 'अ' उच्चारण मे आत्मतत्व का मुख विवृत हुआ। धौंकने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और आत्मतत्व मे निहित वस्तुए बाहर को निकलनी प्रारम्भ हो गई।[1] अ इ उ इन तीन वर्णों में समग्र वाक् को समाविष्ट करते हुए अहिर्बुध्न्य संहिता में उपर्युक्त भाव को और अधिक परिपुष्ट किया है।

माण्डूक्योपनिषद् के[2] आधार पर 'अ' नामक वाक् सब से पूर्व बाहर को प्रकट हुई। इसलिये इसे सबका आदि कहा गया है। प्रकट हो कर

---

१ अ इत्यादि समुन्मेषः सोऽनुत्तार उदीर्यते सर्वावागयमेवैकस्तत्तदाकारभेदवान्। स इच्छन्निरिति व्यक्त उन्मिषन्नुरिति स्मृतः।

अ० स० १६।४५,४६

२ अकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वात् वा।

माण्डू० ९

यह 'अ' वाक् सर्वत्र अभिव्याप्त होती है। यह वाक् ही दूसरे शब्द में 'गौ' है, क्योंकि इसका उद्गिरण किया जाता है। उद्गिरण उगलने को कहते हैं। उद्गिरण उगलना और धौंकना एक ही बात है। यही वाक् सरस्वती है। 'सृ' धातु से यह निष्पन्न होती है। 'सृ' धातु का अर्थ है गति। यह गति ऋतात्मक गति है। गति में ही प्रकाश है, ज्ञान है। स्थिरता में अन्धकार है अज्ञान है। जहां गति है वहां शब्द व ध्वनि भी स्वाभाविक है। अतः वाक् के गति और शब्द इन दोनों गुणों को बताने-वाला वाक् का एक नाम नदी भी है। यह वाक् 'नदीतमा' है। अर्थात् नाद[१] विशिष्टा गत्यात्मिका शब्द ब्रह्ममयी यह वाक् है। नदी में जो आश्रय ग्रहण करता है वह वाक् समुद्र में जा पहुंचता है। उसी प्रकार नाद का ध्यान करने वाला व्यक्ति अन्त में सरस्वती समुद्र में जा पहुंचता है। वह नदीरूपा वाक् अखिल जगत् की मूल ध्वनियों का

---

१ अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। सर-स्वती प्रचेतयसि केतुना··· 'धियो विश्वा विरा-जति। चेतन्ती सुमतीनाम्' 'धीनामविश्यवतु।

कारण है जो परमाणुओं का स्पन्दन व कम्पन है वह भी उन्हीं की क्रिया है, उन्हीं की प्रेरणा है। कम्पन गति है, गति में ही चेतना व ज्ञान है। इस लिये वह चित्स्वरूपिणी व चिन्मयी है।

मनुष्य के संकुचित मन मे प्रसारण व गति नहीं। इसलिये उसे बृहत् व दिव्य ज्ञान नहीं होता। सरस्वती की कृपा होते ही मन आदि अन्त:करणों में एक विशिष्ट गति प्रारम्भ हो जाती है उनमें प्रसारण व विकास प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य आलस्य व प्रमाद का परित्याग कर सदा जागरूक रहने लगता है। इससे मनुष्य में दिव्यज्ञान आ अवतरित होता है। इस प्रकार वह देव व ऋषि बन जाता है। यही वाक् सर्व जगत् की निर्मात्री है। अत: वेद में इसे अम्बा और अम्बितमा कहा गया है। छन्दोबद्ध रूप में तालबद्ध नर्तन (Rhythmical Motion) करती हुई सकल जगत् निर्मात्री यह शुभ्रवर्णा अम्बा गौरी रूप को धारण करती है। गति में ही शुभ्रता, गौरवर्णता, जाज्वल्यता आदि विशेषताएं होती है। स्थिरता व निष्क्रियता में मलीनता व

तमोगुणजनित अन्धता व जड़ता आदि पैदा हो जाते हैं। यह गौरी[१] ही सलिल (सलिलीनम्) में विद्यमान रूपों का तक्षण कर रही है। उसी ने १ पद, २ पद, ४ पद, ८ पद और ६ पद, रखे जिससे यह समग्र संसार प्रकट हुआ है इसे यहां सहस्राक्षरा नाम दिया है। यही वाक् बेकुरा[२] नाम वाली है। क्योंकि बेकुरा (विकि व्याप्तौ अथवा विकृ विक्षेपे) रूप में यह सर्वत्र बिखर कर तथा नाना वस्तुओं में व्याप्त हो विश्व को धारण करती है।

क्या वाक् ही समग्र संसार है ?

अनेकों विचारक इस समग्र संसार को वाक्

---

१ गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।

ऋ० १। १६४। ४१

२ बेकुरा नामासि जुष्टा देवेभ्यो ··· सरस्वत्यै स्वाहा। ता० ब्रा० १।३।१

रूप मानते हैं। उनका कहना यह है कि यह समग्र संसार वाक् का ही विवर्त है। इस संबंध में वेदादि शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वेद में वाक् को विराट्[१] कहा है। विराट् प्रकृति का ही एक नाम है जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित हुई है। जितना ब्रह्म है उतनी ही वाक् है। यह वेद की उक्ति भी इस तथ्य को पुष्ट करती है। यह वाक् ही सब कुछ है इत्यादि वाक्य हम पूर्व में प्रदर्शित कर चुके हैं—

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के 'ओ वाचो वाचो वाच हुम्भा ओवा' वाक्य में ओ से 'ओ३म्' अर्थात् परमात्मा का ग्रहण किया है और 'वाच्' से लोक का। तीन बार आवर्तन तीन लोकों का वाचक है। इससे यह स्पष्ट है कि यह वाक् ही लोक व लोक

---

१ एष वै छन्दस्य: साममय: प्रथमो वैराज: पुरुषो योऽन्नमसृजत तस्मात् पशवोऽजायन्त पशुभ्यो वनस्पतयो वनस्पतिभ्यो दिश:। वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृत यच्चमर्त्यम्। ऋग्वर्ण

में स्थित समग्र वस्तुओं का वाचक है। ताण्ड्य[१] महाब्राह्मण में एक स्थल पर आता है कि 'प्रजापति अकेला था। उसके अतिरिक्त वाक् ही उसकी अपनी सम्पत्ति थी। उसने ईक्षण किया कि मैं इस वाक् का सर्जन करूं यह वाक् ही यह सब कुछ अर्थात् विविध रूपों में हो जायेगी'। इसी आधार पर व्याकरण आदि शास्त्रों के प्रणेता विद्वानों ने भी जगत् को शब्द ब्रह्म का विवर्त माना है। इस सम्बन्ध में कई विद्वानों का यह कहना है कि यह संसार वाक् का विवर्त व परिणाम आदि कुछ नहीं है। यह वाक् तो संसार के निर्माण करने वाली भागवत शक्ति है। इसे त्वष्टा या विश्वकर्मा कह सकते हैं। यह वाक् इस सृष्टि के अणु-रेणु में इतनी अधिक ओतप्रोत है कि वाक् से प्रकृतितत्व को पृथक् कर के दिखा सकना अति-दुष्कर है। इसी कारण यह समग्र संसार वाक्

---

१ प्रजापतिर्वा इदमेक आसं तस्य वागेव स्वमासीत् वाग् द्वितीया स ऐक्षतेमामेव वाचं विसृजा। इय वा इद सर्वं विभवन्त्येष्यतीति।

तां०ब्रा० २०।१४

रूप प्रतीत होता है। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि उस सर्व-स्रष्टा वाचस्पति भगवान् से उच्चरित हो यह वाक् एक-एक अणुरेणु में व्याप्त हो समग्र संसार का तक्षण कर रही है। वागाम्भृणी सूक्त में भी इस वाक् की महिमा प्रदर्शित हुई है। पाश्चात्य विचारकों में भी कइयों को वाक् की इस महिमा की अनुभूति हुई।

आद्यस्फोट

विश्वकर्मा भगवान् की धौंकनी से वाक् का धौंका जाना, उद्गीर्ण होना (गौरी–गी:) स्फोट होना, आदि क्रियाएं एक ही भाव की द्योतक हैं। उद्गीर्ण होना, धौंका जाना आदि क्रियाएं तो वेदों में किसी न किसी रूप में प्रयुक्त हुई है। परन्तु स्फोट शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं हुआ है। अतः हम यह निश्चय से कह सकते हैं कि यह स्फोट शब्द वेदों से अति अर्वाचीन काल का शब्द है। व्याकरण शास्त्र में यह शब्द एक विशिष्ट स्थान रखता है। वहां इसने एक पारिभाषिक रूप धारण कर लिया है

और पदस्फोट व वाक्यस्फोट आदि के रूप में नित्य-सत्तायुक्त स्वीकार किया गया है। परन्तु इसके विपरीत सांख्य[१] दर्शन के रचयिता ने इस स्फोटात्मक शब्द का खण्डन किया है। और उन्होंने तो शब्द की नित्यता को[२] भी अस्वीकार कर दिया है। कई विचारक नाद रूप को ही स्फोट मानते हैं। कहने का भाव यह है कि इस सम्बन्ध मे अनेकों प्रवाद हैं।[३]

इन सब के विवेचन में न जाकर हम धौंकना, उद्गीर्ण होना, बिखरना आदि क्रियाओं के साथ स्फोट शब्द का समन्वय करते हुए फूटने, विकसित होने, वाक् समुद्र में बुलबुले के समान शब्दादि रूप में प्रस्फुटित होने में ही इसका सामञ्जस्य समझते हैं। क्योंकि स्फोट शब्द से फटना, भेदन

---

१ प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः।

सां० ५।५७

२ न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः।

सां० ५।५८

३ प्रवादेष्वनवस्थितिः। वाक्य पदीय। १।१०८

होना, विशरण होना (स्फुटिर् विशरणे भेदने, स्फुट् विकसने) यह क्रिया की व्यापकता ही यहां अभीष्ट है। बीज जमीन में जाकर पहले फूटता है, उसका भेदन होता है, फिर उससे अंकुर फूटता है। इस प्रकार बीज के स्फोट का यह अंकुर परिणाम है। जिस प्रकार पृथिवी को भेदन कर स्रोता फूटता है। जल के इस आद्य उद्गम के लिये स्फुट् धातु का प्रयोग उपयुक्त है, उसी प्रकार आदिम वाक् के लिये भी स्फुट् धातु का प्रयोग सही है। वाक् का यह आद्य उद्गम व स्फोट अकार है। हरिवंशपुराण में आता है कि—

अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः।

भविष्य पर्व १६।५२

अक्षरों में तू अकार है, तू स्फोट है और वर्णों का आश्रय है। यह अकार रूप आद्यस्फोट नित्य है और सर्वव्यापक है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि नित्य और अनित्य, अमृत

और मृत आदि शब्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य में बहुत सापेक्ष रूप में हुआ है। भगवान् तो अजर अमर है ही, पर जो मनुष्य अपनी पूर्ण आयुष्य को भोग ले उसके लिये भी वैदिक साहित्य में अमृत शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार नित्य और अनित्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। सांख्य की दृष्टि में अभिव्यक्ति प्रक्रिया को छोड कर कुछ भी असत्य व अनित्य नहीं है। उसके मत में सम्पूर्ण सृष्टि सत् है। कारण में पहिले ही विद्यमान है। केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति-प्रक्रिया ही अनित्य है। इसी प्रकार वेदादि सम्पूर्ण शब्दजाल के लिये कहा जा सकता है। वे भगवान् में निहित हैं, और नित्य हैं, परन्तु सृष्टि में आकर अल्पज्ञ जीव की दृष्टि से ही यह नित्य और अनित्य का व्यवहार होता है। जिस प्रकार काल नित्य है। पर जीव की दृष्टि से इस नित्य काल में सैकण्ड, मिनट, घण्टा, प्रहर, रात, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, सवत्सर आदि भागों में अनित्यत्व का आरोप हो जाता है उसी प्रकार नित्य शब्द ब्रह्म में ये स्फोट है।

जिस प्रकार अतलस्पर्शी प्रशान्त समुद्र-गर्भ से उर्ध्व में आकर प्रतिक्षण उद्बुद्ध व विलीन होने वाली विशाल तरंगों का एक विक्षुब्ध समूह दृष्टिगोचर होता है जो कि क्षणभंगुर है। उसी प्रकार सर्वव्यापक व सूक्ष्मतम वाक्-समुद्र से सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और वैखरी रूप स्थूल वाक् की ओर आते हुए स्थूलता व अनित्यता का आरोप हो जाता है। इस अनित्य वाक् अर्थात् नादसंभिन्न वैखरी वाक् से भी स्फोट का सम्बन्ध है। जिस प्रकार बीज से अंकुर फूटा, अंकुर से कलिका फूटी, कलिका से आगे पल्लव व पुष्प आदि का प्रस्फुटन हुआ, उसी प्रकार यह वाक् स्फोट भी समझना चाहिये। इस लिये हमारे विचार में इन सब उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि स्फोट केवल नित्य ही नहीं है, उसमें अनित्यता का भी सम्मिश्रण है, अनित्यता का आरोप है। यह स्फोट की नित्यता भी सृष्टि प्रारम्भ से लेकर प्रलय तक ही है, क्योंकि प्रलय मे इस वाक् के भगवान् में विलीन होने पर गौरी, सरस्वती आदि रूप कुछ नहीं रहते। इसलिये शब्द के नित्यत्व व कृतकत्व में

यहां आकर तो दोनों में समन्वय हो ही जाता है। इसी दृष्टि से वाक्यपदीय में भर्तृहरिने कहा है कि--

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्था नित्यतोच्यते। १।२८

इसका भाव यह है कि शब्दों को नित्य मानें, चाहे कृतक मानें, ये उसी भांति अनादि हैं जिस प्रकार प्राणि-व्यवहार अनादि है।

वाक् और खम् (आकाश)

जिस समय विश्वकर्मा भगवान् ने अपनी धौंकनी प्रारम्भ की, उस समय सर्वव्यापक भगवान् के विश्वतो मुख से उद्गीर्ण होने से वह गौरी व गौ, कहलायी। चहुं ओर उसके प्रसृत होने से वह सरस्वती कही जाने लगी। सर्वत्र बिखरने से व्याप्तिमती हो वेकुरा बनी। इस वाक् के उद्गिरण का प्रभाव यह हुआ कि यह प्राकृतिक अणु-रेणु

तीव्रगति से तालबद्ध नर्तन करता हुआ गुञ्जायमान हो उठा । इसलिये नाद सम्भिन्न होने के कारण यह वाक् नदी नाम से उच्चरित हुई। चहुं ओर फैलती हुई इस वाक् ने अभ्रि (कुदाल) रूप धारण कर आकाश मे सर्वत्र अभिव्याप्त अणु–रेणु का खनन प्रारम्भ किया । इसलिये आकाश को खम् कहते है । 'खम्' खनन से बना है। जिस प्रकार माता के गर्भ में विद्यमान कलल को खोद कर इन्द्रिय गोलक (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुः) बहिर्मुखी बनाये गये है, उसी भांति आकाश में व्याप्त अण्डे को खोदा गया है। यह खुदाई वाक् रूप अभ्रि ने की है। जब वाक् द्वारा खनन-प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तो उससे त्रिगुणात्मक प्रकृति के घटकों में मिश्रणामिश्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। यह गति और मिश्रणामिश्रण की प्रक्रिया ही वायु (वायु = वा गतिगन्धनयोः यु मिश्रणामिश्रणयोः) है। गति होना और मिश्रणामिश्रण अर्थात् सयोग और विभाग होना शब्दोत्पत्ति का कारण बनता है। इसी दृष्टि से 'वायुः खात् शब्दस्तत्' (प्रातिशाख्य) और

'संयोग विभागशब्देभ्य: शब्दोत्पत्तिः' इन सूत्रों द्वारा शब्दोत्पत्ति का एक दार्शनिक विवरण स्पष्ट होता है।

वाक् की प्रसरण-क्रिया

वाक् का परम-व्योम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट और अन्तिम आश्रय-स्थान ब्रह्म है, ऐसा वेदों में प्रतिपादित किया गया है। यह ब्रह्म ही दूसरे शब्द में महत्तत्व व महद्ब्रह्म कहलाता है। सृष्टि-निर्माण क्रम में प्रकृति से अगली स्थिति महद्ब्रह्म की है, इस में त्रिगुणात्मक प्रकृति के अन्दर गति प्रारम्भ हो जाती है। यह गति ही शब्द व वाक् की उत्पत्ति में कारण बनती है। गति द्वारा त्रिगुण में वाक् उत्पन्न हो कर सर्वत्र फैलती है। प्रश्न यह है कि वाक् के प्रसृत होने व फैलने की प्रक्रिया क्या है? वेद में आता है कि यह वाक् उत्पन्न हो कर तरंगों के रूप में उसी प्रकार चहुं ओर फैलती है जिस प्रकार समुद्र में तरंगें। मन्त्र में कहा गया है 'प्रावीविपद्वाच ऊर्मि न सिन्धुः-

ऋ० ६।६६।७ अर्थात् समुद्र में जिस प्रकार तरंगें उठती हैं उसी प्रकार वाक्-तरंगें भी कम्पन करती हुई गति करती है।

वेदों में वाक् के विभिन्न रूप

वेदों में वाक् के अनेकों विभिन्न रूप दर्शाये गये हैं। कौनसा रूप सृष्टि के किस स्तर पर और किस तरंग मे गति व प्रसरण करता है यह एक बड़ा व्यापक विषय है। इस पर यहां विचार न कर के हम वेदों में परिगणित वाक् के कुछ विभिन्न रूपों का केवल-मात्र नामनिर्देश करते हैं।

बृहती वाक्

बृहती[1] वाक् बृहस्पति देवता की वाक् है। यह द्युलोक में बृहत् नामक माध्यम द्वारा फैलती

---

१ बृहस्पते बृंहतीवा चमावत्।

ऋ० १०।१३०।४

है। इस बृहती वाक् का संग्राहक यन्त्र हमारा मस्तिष्क है।

द्युमती वाक्

द्युमती[१] वाक् बृहस्पति आदि देवताओं की कृपा से मानव-ऋषि प्राप्त करता है और उसके मुख से द्युमती वाक् का प्रकाश होता है।

छन्दस्या वाक्

छन्दस्या[२] वाक् वैदिक वाक् है। छन्दोबद्ध मन्त्र-समूह द्वारा यह वाक् ब्रह्मा द्वारा उच्चारित की जाती है।

परमेष्ठिनी वाक्

ब्रह्म से तीक्ष्णीकृत हो यह परमेष्ठिनी[३] वाक्

---

१ दधामि ते द्युमती वाचमासन्। १०।६८।२;
अस्मे धेहि द्युमती वाचमासन्। १०।६८।३

२ यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचंवदन्।
ऋ० ६।११३।६

३ इय या परमेष्ठिनी वाक् देवी ब्रह्मसंशिता।

शमप्रधान तथा घोरप्रधान सृष्टियों का सर्जन करती है।

दैव्य वाक्

ऋषि लोग अपनी दैव्यवाणी से१ किसी मनुष्य के कष्टों व रोगों का निवारण कर सकते हैं। इसी भांति अनेकों प्रकार की दैवी वाक् का दिग्दर्शन वेद मन्त्रों में होता है। ये दैवी वाक् अनुदित वाक् अर्थात् प्रच्छन्न वाक् होती हैं। इन अनुदित२ वाक् अर्थात् अनुच्चारित वाक् को जान लेने वाला व्यक्ति दिव्य पुरुष होता है। सर्वसाधारण इस को जान नहीं सकता। कई वाक् मनुष्य को गर्त में ले जानेवाली विरोधी वाक् होती हैं।

यथैव ससृजे घोर तथैव शान्तिरस्तु नः।

अथर्व० १९।९।३

१ उत्त्वा निऋर्त्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि। अथर्व० ८।१।३ वाचा यक्ष्मं ते वारयामहै। अथर्व० ६।८४।२

२ यो वाचमनुदितां चिकेत।

अथर्व० ५।१।२

उन्हें प्रतीची वाक्[1] कहा गया है और उन्हें मन्त्रों मे रोकने व नियन्त्रित करने का आदेश दिया है।

मनुष्य में निहित वाक्

वाक् के जो विभिन्न रूप हैं, उन्हे तीन या चार भागों में विभक्त किया गया है। मनुष्य मे भी वाक् के ये विभाग प्रच्छन्न रूप में निहित हैं। वाक् के ये[2] तीन रूप परा, पश्यन्ती और मध्यमा है जो कि मनुष्य में प्रच्छन्न रूप में रहते है। इनमें मध्यमा ही घोष रूप में अर्थात् वैखरी रूप में परिणत होती है। इन सब पर हमें यहां विचार करने की आवश्यकता नहीं है। केवलमात्र अनुभूति से यह जानना आवश्यक है कि छन्दस्था वाक् किस विभाग में है ? और उनके चहुं ओर प्रसरण के माध्यम अग्नि, वायु, आदित्य और अथर्वा तथा आंगिरस प्राणों (ऋषि) का ज्ञान

---

१ प्रतीची जग्रभा वाचमश्वं रशनया यथा।

ऋ० १०।१८।१४

२ तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका विपपाताऽनुघोषम्।

व उनकी अनुभूति हमें किस प्रकार हो सकती है ?

शब्द स्वरूप में विभिन्न मत

शब्द क्या है ? यह एक बहुत विवादास्पद विषय है। इस सम्बन्ध मे भर्तृहरि कृत वाक्य पदीय में अनेकों मत प्रदर्शित हुए हैं। कई आचार्य ऐसा मानते है कि[१] वायु ही शब्दरूप में परिणत होती है। कई आचार्य परमाणुओं को[२] शब्द का कारण मानते हैं और कई ज्ञान को।[३] प्रायः इन सब का आधार वेदों में मिल जाता है। ऋचाओं का 'तक्षण' 'अपाकषन्' आदि प्रयोग

---

१ स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।
वाक्यपदीय १।१०९

२ अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः।
वा० प० १।११२

३ अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन निवर्तते।
वा० प० १।११३

इस तथ्य के द्योतक समझे जा सकते हैं।

शब्द और ज्ञान का सहचार

वाक्यपदीय का१ एक श्लोक है जिसका भाव यह है कि लोक मे कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं जो कि शब्द के बिना रह सके। हमारे विचार में लोक में तो यह सही है परन्तु सर्वत्र नहीं, क्योंकि सब शब्दों को आदि स्रोत, समग्र ज्ञान की आगार आदिमवाक् में शब्दों की स्थिति का चित्रण, तथा अकार में ही सब वर्णों व शब्दों का समावेश किस प्रकार संभव है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिसका सच्चा समाधान एक योगी पुरुष ही कर सकता है। जिस समय मनुष्य ऊंची भूमिकाओं की ओर आरोहण करता है, उस समय वह वैखरी२ वाक् तथा शब्दों के वैकृत रूप को अतिक्रान्त करता जाता है। यह लोक का क्षेत्र जहां कि शब्द और ज्ञान का सदा सहचार होता है, हमारी बुद्धि तक

---

१ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

२ वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।

ही होता है। परन्तु बुद्धि से ऊपर उठकर शब्द और ज्ञान का प्रतीयमान भेद सब समाप्त हो जाता है। बुद्धि के क्षेत्र में ही विचरने वाले पुरुषों को यह आवश्यक नहीं कि संज्ञा और संज्ञि-का सच्चा संबन्ध ज्ञान अवश्य ही हो। पर बुद्धि से ऊपर पहुंच कर संज्ञा संज्ञि का संबन्ध ज्ञान सच्चा हो जाता है, और ज्यों-ज्यों मनुष्य वाक् के अन्तिम परा रूप को अधिगत करता जाता है त्यों त्यों शब्द और ज्ञान एकरूप होते जाते है।

ऋ० १०।६७।४ में[१] कहा है कि एक से परे और दो से इधर अर्थात् वैखरी से परे और परा, पश्यन्ती से इधर जो मध्यमा वाक् है, उसके पास अनृत का सेतु है, जहां गुहा में दिव्य ज्ञान की गौएं (किरणें) रुकी हुई हैं। उस अनृत के सेतु से ज्ञान की कुछ कुछ किरणें छन कर आती हैं। इन्हीं पर संसार का समग्र बौद्धिक ज्ञान आश्रित है। बौद्धिक क्षेत्र से ऊपर की ओर प्रयाण करने पर मनुष्य को जो ज्ञान शब्दानुगम से रहित

---

१ अवो द्वाभ्यां पर एकया गाः गुहा तिष्ठन्तीर-नृतस्य सेतौ। ऋ० १०।६७।४

प्रतीत होता है, वह अनृत के सेतु से छन कर आती हुई क्षीणसी ज्ञान–किरणों के कारण होता है। अर्द्धपौरुषेयवादी की स्थिति यहीं तक है और आधुनिक कवियों की स्थिति व पहुंच भी यहां तक है पर वैदिक कवि व ऋषि क्रान्त-दर्शी होते थे। वे इस अनृत के सेतु को भेदन कर पार१ जा पहुंचते थे और आर्ष चक्षु से त्रिकाला-बाधित सत्य ज्ञान को देख लेते थे। अतः जो मनुष्य इस अनृत के सेतुसे पार पहुंच जाता है वह वाक् के वैकृत रूप, शब्द, मूर्ति और उनके विविध व्यवहार सब को अतिक्रान्त कर जाता है। उसे सब प्रकार के रूप, भेद व क्रम से रहित सतत वाक् का दर्शन होता है जो कि ज्योति२ रूप होती है। यह प्रत्यस्तमित रूपवाली सम्पूर्ण वाक् ही सर्वोत्तम मानी गई है। परा वाक् तक पहुंचते

---

१ पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

२ तिस्रोवाचः प्रवद ज्योतिरग्रा। ऋ० ७। १०१।१ स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी। भारत।

हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप भी सब समाप्त हो जाते हैं। अपौरुषेय पक्ष के शब्दानुगम रहित ज्ञान और प्रत्यस्तमित१ रूप वाली वाक् में महान् अन्तर है।

वाक् उत्पत्ति के दो प्रेरक

वाक् की उत्पत्ति में दो प्रेरक भाव हैं। एक प्रकृति और दूसरी आत्मा। जिन व्यक्तियों के शब्द प्रकृति से प्रेरित होकर निकलते हैं अर्थात् उनकी वासनाओं, मान्यताओं व अहंभावों से प्रेरित होते हैं तब वे प्रभावशाली व स्थिर शक्तिवाले नहीं होते चाहे कितने ही सुन्दर शब्दों व वाक्यावलियों का उनमें समावेश क्यों न हो। और जो शब्द आत्मा की गहराई से प्रेरित होते हैं उनमें स्थायित्व होता है। बलवान् आत्मा के शब्दों मे भी बल होता है। इस तथ्य को हमें अच्छी प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिये। पाण्डित्य के शब्दों में उतना बल नहीं

---

१ प्रत्यस्तमितरूपाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
वा० प० १।१८

जितना बलवान् आत्मा के शब्दों में है। महात्मा गांधी के टूटे-फूटे शब्दों ने भारतवासियों के हृदय में अग्नि-संचार कर दिया। यह ऐतिहासिक सत्य है कि उस समय के अनेकों विद्वानों व राजनीति के पण्डितों के शब्दों में वह बल नहीं था जो महात्मा गांधी के शब्दों में था। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक शक्ति-सम्पन्न और दूसरा शक्तिहीन। शक्तिहीन कृतियां चाहे कितनी ही सुन्दर शब्दावलियों में हों, प्रभावशाली न होंगी। यदि कुछ प्रभावशाली हुई भी तो मनुष्य के उथले क्षेत्र में क्षणिक जोश के रूप में होंगी और चिरस्थाई न होंगी। दूसरे आत्मा से प्रेरित शब्दों की चोट गहरी होती है, और प्रकृति से उत्पन्न शब्दों की चोट गहरी न होकर जोश, विक्षोभ आदि को पैदा करने वाली होती है। इसी दृष्टि से हमें वेदों, उपनिषदों व अन्य आर्ष ग्रन्थों के शब्दों पर विचार करना चाहिये। मन्त्रों में शक्ति है यह हम फिर कभी विस्तार से लिखेंगे।

वाक् की व्योम-व्यापकता

वाक् उच्चरित होकर व्योम में सर्वत्र फैलती है। उसका विस्तार परमव्योम तक है, जहां तक ब्रह्म है वहां तक वाक् है यह हम पूर्व में देख ही चुके है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सभी प्रकार की वाक् परम व्योम में सर्वत्र व्याप्त हो जाती है? इस सम्बन्ध में हमें निम्न बातें अवश्य देखनी चाहियें--

१--वाक् स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम इन सब रूपों में होती है।

२--प्रकृति प्रेरित है (सत्व, रज, तम से प्रेरित) या आत्मा से प्रेरित है।

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते है कि जिस स्तर की वाक् है वह अपने स्तर में सर्वत्र व्याप्त होती है, पर ऊर्ध्व में देवों तक पहुंचने वाली वाक्, सत्यवाक् व दैवी वाक् होती है। मनुष्य को सदा ऊर्ध्वगामिनी वाक् बोलनी चाहिये। इसलिये मन्त्रों में जहां वाक् का वर्णन है वहां 'उद्वाचमीरयति उदीरते उदियर्ति' आदि प्रयोग बहुलता से हुये है। इसी दृष्टि से मन्त्रों पर हमें विचार करना चाहिये कि कौनसा मन्त्र सृष्टि के

किस स्तर का है ? कहां का वह सही चित्रण करता है ? इत्यादि। वेदों में ऊर्ध्व-लोक सवितृ-लोक माना है अतः सवितासम्बन्धी मन्त्र ऊर्ध्वतम लोक तक पहुंचने वाले हैं। इसी दृष्टि से सूर्यस्तवन करने वाले पृथिवी का स्तवन करने वाले तथा अन्य देवों का स्तवन करने वाले मन्त्रों की व्यापकता को हमें समझना चाहिये। मन्त्र का स्तर छन्द से ज्ञात होता है। किसी देवता की परिधि स्तर व उसकी व्यापकता भी छन्दों से पता चलती है। इस प्रकार सामान्य व वैदिक वाक् के स्वरूप पर हमने कुछ संक्षिप्त विचार किया। वाक्के एक २ स्वरूप को लेकर विस्तार से बहुत कुछ लिखा जाना चाहिये तभी इसका कुछ स्पष्टीकरण हो सकता है।

—०—

वेदों का साक्षात्कार

महर्षि दयानन्द ने पृथिवी पर जो अवतरण किया उसका एकमात्र उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष के द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल को पुनः वेदों की ओर ले जाया जाय। इसलिये उनका प्रमुख नारा यह था कि हे आर्यजाति! तू फिर वेदों की तरफ मुड़। इस नारे की विभिन्न प्रतिक्रियायें हुईं। पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार करने वाले विद्वानों ने इसका भाव यह समझा कि स्वामी दयानन्द हिन्दु जाति को पुनः उसी (प्रिमिटिव स्टेज) वेद की असभ्य व अर्द्ध सभ्य अवस्था में ले जाना चाहते हैं। उनका कहना है कि यह मानव की प्रवृत्ति है कि वह भूतकाल की सदा प्रशंसा किया करता है। स्वामी दया नन्द भी इस मानवसुलभ सहज प्रवृत्ति से बच न सके। इस प्रकार के अनेकों उद्‌गार पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार करने वाले विद्वानों के हैं। इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यहां हम कुछ नहीं कहना चाहते। इसके विपरीत आर्यसमाज ने इसका क्या भाव समझा और इस सम्बन्ध मे उसने क्या प्रयत्न किये?

क्या वे प्रयत्न सही थे ? इत्यादि अनेकों विवाद के विषय हैं, जिनपर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। पर किस्से कहानियों द्वारा जनता का मनोरंजन करना वेदों का प्रचार नहीं है, यह हमें भली भांति समझ लेना चाहिये। इसी से मिलती-जुलती व्यवस्था वेदमन्त्रों के अर्थ करने व समझने की रही है। वेदमन्त्रों के अर्थ प्रायः बुद्धि बल से किये जाते हैं। जिन निरुक्त व व्याकरणादि साधनों का अवलम्बन कर कुछ विद्वान् मन्त्रों का अर्थ करके एक सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, तो अन्य विद्वान् अपनी बुद्धि व तर्कबल से अन्य ही सिद्धान्त ला उपस्थित करते हैं, इसलिये वैदिक शब्दों व मन्त्रों का कौन सा अर्थ सही है यह निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये यदि आर्यजाति की प्रबल अभीप्सा व सतत उद्यम हो, तो पुनः वेदों का पूर्ववत् साक्षात्कार हो सकता है। वे आद्य ऋषि फिर इस पुण्यभूमि में पदार्पण कर सकते हैं, अथवा हममें से ही साक्षात्कार करने वाले ऋषि बन सकते हैं। कहा भी है—

ऋषय एते मन्त्रकृतः पुराजाः
पुनराजायन्ते वेदानां गुप्त्यैकम्।

ते वै विद्वांसो वैन्य तद्वदन्ति
समानं पुरुषं बहुधा निविष्टम् ॥
जै०उ० १।१४।४।२

श्री अरविन्द ने 'दी सीक्रेट आफ दी वेद' वेद रहस्य में लिखा है कि 'ये रहस्यमय (वेद के) शब्द है, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अन्दर रक्खा हुआ है, जो अर्थ पुरोहित कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पंडित, ऐतिहासिक तथा गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है।"

यदि हम गम्भीरता से सोचें तो सचमुच हमारी यही अवस्था बन गई थी। वेदों के रहस्यों को हम सर्वथा भुला चुके थे। अब हमें उन रहस्यों का पता लगाने का फिर प्रयत्न करना चाहिये। गम्भीर चिन्तन व शास्त्रों के विवेचन से कुछ न कुछ धुंधला सा प्रकाश अवश्य मिलेगा, जिससे कि हम सही मार्ग के पता लगाने में समर्थ हो सकेंगे। शास्त्रों के विवेचन से वेदों का साक्षात्कार का क्या मार्ग हो सकता है ? इस सम्बन्ध में हम अपने कुछ विचार विज्ञ पाठकों के समक्ष यहां रखते है। यह आवश्यक नहीं कि ये पूर्णरूपेण सही हों, क्योंकि

अभी हम इन गुह्य बातों के सम्बन्ध में पूर्ण अन्धकार में हैं। परन्तु उग्र तप व प्रबल अभीप्सा सफलता की कुञ्जी है।

निरुक्त निर्माता यास्काचार्य का यह कथन है कि—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" अर्थात् आद्य ऋषि वेदों के साक्षात्कार करने वाले हुये हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणादि ग्रन्थों व स्मृतियों आदि में ऋषियों को मन्त्र का साक्षात्कार करने वाला बताया गया है। यह सब तो सही है पर विचारणीय यह है कि मन्त्रों के साक्षात्कार की प्रक्रिया क्या है? वह साक्षात्कार होता कैसे है? उसका सिलसिले वार व्यौरा क्या है? इत्यादि कुछ गम्भीर विवेचनीय विषय हैं।

वेदों के साक्षात्कार के हमें दो साधन प्रतीत होते हैं। एक मन्त्रों का श्रवण और दूसरा मन्त्रों का दर्शन। इस लेख में हम केवल मन्त्रों के श्रवण पर ही विचार करेंगे।

वेदों की श्रुति संज्ञा

वेदों को श्रुति कहा जाता है। इसका अभिप्राय प्रायःकर विद्वान् यह लेते हैं कि जो गुरु परम्परा

से सुना जाता रहा है। क्योंकि प्रारम्भ में भारतवर्ष में लेखनकला नहीं थी। शिष्य वेदों को गुरुमुख से श्रवण कर कण्ठस्थ कर लिया करते थे। इसलिये गुरु से सुनने के कारण इसे श्रुति कहा जाता है। जब तक भारतवर्ष में लेखनकला का आविर्भाव व प्रचार नहीं हुआ तब तक पठनपाठन में यही श्रवण परम्परा प्रचलित रही। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारे विचार कुछ भिन्न है। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वेदों पर विचार करने केलिये हमें वेदों व वैदिक साहित्य के ही प्रमाण अपने सामने रखने चाहियें। फिर चाहे उन प्रमाणों से कुछ ही सिद्ध हो जाये। वैदिक साहित्य के आधार पर हम यह कह सकते है कि वेदों को श्रुति इसलिये कहा जाता है कि ऋषियों ने आदिगुरु भगवान् से मन्त्रों का श्रवण किया। दूसरे शब्दों में इसी कथन को हम इस प्रकार भी कह सकते है कि मन्द्रजिह्व भगवान् से उच्चरित होने से इस ब्रह्माण्ड में निरन्तर वेद ध्वनि हो रही है। ऋषि-मुनि अपने श्रोत्रों में दिव्यता का आविर्भाव कर ब्रह्माण्ड में गूंज रहे वेदों का श्रवण करते थे। इसलिये उन्हें श्रुति कहा

जाता है। वेदों के लिये श्रुति शब्द की सार्थकता यही है। मानव गुरु से श्रवण होना तो एक गौण बात है। ऋग्वेद में बृहस्पतिरूप में भगवान् की स्तुति करते हुये उसे मन्द्रजिह्व कहा है, और यह स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि ऋषि ध्यानावस्था में उसे सुनते हैं। मन्त्र इस प्रकार है--

तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः
पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।
ऋ० ४।५०।१

अर्थात् ध्यान करते हुये पुरातन विप्र ऋषि उस मन्द्रजिह्व भगवान् को आगे सामने ले आते हैं।

इस मन्त्र से यह भाव स्पष्ट रूप से ध्वनित हो रहा है कि पुरातन ऋषि उस भगवान् को बृहस्पतिरूप में गुरु धारण कर ध्यान के समय साक्षात् सामने ले आते थे और वह उन्हें मन्द्रजिह्वा द्वारा उपदेश देता था। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों का जरा गम्भीरता से विवेचन किया जाये तो हमें यह ही भाव एक दूसरे रूप में प्रतीत होगा। अथर्व में आता है कि "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" अथर्व १०।८।३२, इससे अगला

ही मन्त्र है—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ।।

अथर्व–१०।८।३३

अपूर्व (भगवान् जिसके पूर्व में कोई नहीं) से प्रेरित ये वेदवाणियां यथातथा अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही कहती है और इस प्रकार बोलती हुई गूंजती हुई ये वेदवाणियां जहां जाकर विलीन हो जाती हैं उसे महद्ब्रह्म कहते हैं ।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि अपूर्व नामक भगवान् से प्रेरित ये वेद-वाणियां निरन्तर गूंज रही हैं । आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें सुना जाये । परन्तु फिर वही प्रश्न पैदा होता है कि उन्हें सुनें कैसे ? इससे पूर्व कि हम इस प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ कहें, एक शंका और पैदा होती है और वह यह कि क्या किसी स्थान विशेष से मन्त्रों की ध्वनि हो रही है या इस मन्त्रध्वनि का कुछ और ही रूप है ?

अथर्व में आता है कि 'वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती । अथर्व. १०।१०।१४

वह वशा ऋचाओं तथा सामों को धारण किये हुये इस ब्रह्माण्डरूपी समुद्र मे नर्तन कर रही है। इसका तात्पर्य यह है कि ऋक् और साम को ब्रह्माण्डरूपी समुद्र में कार्य करता हुआ देखने के लिये 'वशा' का ज्ञान होना आवश्यक है। 'वशा' क्या है इस पर हम फिर कभी विचार करेंगे।

मन्त्र-ध्वनि का स्थान-विशेष

हम ऊपर कह चुके है कि भगवान् से प्रेरित मन्त्र निरन्तर गूंज रहे है। उनकी अजस्र ध्वनि सर्वदा सर्वत्र व्याप्त हो रही है। परन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि वह कौन सा स्थान-विशेष है जहां से कि मन्त्रध्वनि प्रसारित की जाती है। क्योंकि यह तो होता है कि एक स्थान से ध्वनि का उद्गम होकर वह आकाश में सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से शास्त्रों मे कहा गया है कि "व्योमान्तो वाचः" जै० उ० "गोस्तु मात्रा न विद्यते" अर्थात् वाणी व्योमपर्यन्त व्याप्त होती है और वाणी की कोई मात्रा अर्थात् माप नहीं है। इसी प्रकार ऋचाओं के सम्बन्धमें जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मणमें आलंकारिक

रूप से कहा गया है कि "तान्यादिवः प्रकीर्णान्यशेरन् । अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्पदानि शरीराणि सञ्चित्याभ्यर्चत् यदभ्यर्चत्ता एवर्चोऽभवन्" । जै० उ० १।४।१।६ अर्थात् ये ऋचायें द्युलोक तक बिखरी हुई थीं । प्रजापति ने इन ऋक् पदों को इकट्ठा कर अर्चना की, इससे ये ऋचायें कहलायीं । इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य ध्वनि व शब्द को आकाश में सर्वत्र व्याप्त होने वाला बताता है । आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह सही है । परन्तु प्रश्न तो यह है कि इन ऋचाओं का कोई स्थान भी बताया गया है कि नहीं, जहां से कि ये प्रसारित की जाती हों ? इस सम्बन्ध में वेद मे आता है कि ये "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्०" ऋ० १।१६४।३९ अर्थात् ऋचायें परम व्योम मे हैं । अतः मंत्र के कथनानुसार यह मानना पड़ता है कि परम व्योम से ही वे सर्वत्र प्रसारित की जाती है । 'परम व्योम' वेद का एक पारिभाषिक शब्द है । यह भगवान् का वाचक है ऐसा विद्वानों का कहना है । परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा यह निवेदन है कि भगवान् के तो अग्नि, वायु, सूर्य,

इन्द्र आदि सभी नाम हैं। ये सब भगवान् के नाम होते हुये भी इनमें महान् अन्तर है। इनकी अपनी पृथक् २ विशेषता है। और वह विशेषता त्रैगुण्य की है। क्योंकि बिना त्रिगुण के भगवान् का भी वर्णन हो ही नहीं सकता। उसका अग्नित्व, सूर्यत्व, वायुत्व, इन्द्रत्व आदि त्रिगुण के सहित ही है। यदि परमात्मा से त्रिगुण को पृथक् कर दिया जावे तो यह समस्या उपस्थित होगी कि उसका भावात्मक रूप (पोजीटिव) में कैसे वर्णन करे? भगवान् के विविध रूपों को वर्णन करने वाले वेदों को श्रीमद्भगवद्गीता में त्रैगुण्य विषयक बताया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि वेदों में त्रिगुण को छोड़ कर वर्णन हो नहीं सकता। इससे हमे यह स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् की विभूति को प्रकट करने वाला प्रत्येक नाम त्रिगुण की विशेषता से युक्त है। और दूसरी बात यह है कि वेद मन्त्रों मे त्रिगुणात्मक भौतिक शक्तियों और परमात्मा का अभिन्नरूप से वर्णन पाया जाता है। अग्नि के मन्त्र जहां अग्निरूप भगवान् का वर्णन करते हैं, वहां भौतिक अग्नि का भी वर्णन कर रहे होते हैं। इस कारण

अद्वैतवादी विद्वानों का यह विचार है कि वेदों में जब इस प्रकार की वर्णन की अभिन्नता है तो वर्णनीय विषय भी अभिन्न ही है। यह सब एक ब्रह्म ही है जो विविध रूपों में प्रकट हुआ है। इस सम्बन्ध में हम यहां विस्तार से कुछ नहीं कहना चाहते। हम अद्वैतवादी नहीं है पर हमारा यहां पर इन सब बातों के दिग्दर्शन का यही तात्पर्य है कि भगवान् के अग्नित्व, सूर्यत्व, वायुत्व व परमव्योमत्व आदि की सार्थकता इन्हीं त्रिगुणों को लेकर होती है। भगवान् के इन विभिन्न नामों के आधार पर उसका गुणविशेष, रूपविशेष, स्थानविशेष आदि माने बिना काम नहीं चल सकता। जहां भगवान् सूर्य-द्वारा अपनी सूर्यशक्ति को प्रकट कर रहा है वहां व्योमनाम से अपने आकाशरूप को बता रहा है। व्योमनाम आकाश का एक सामान्य नाम है और परमव्योम आकाश के उत्कृष्ट भाग की ओर निर्देश कर रहा है। आकाश का यह सर्वोत्कृष्ट स्थान परम व्योम "उत्तमं नाकं परमं व्योम" अथर्व–११।१।३० है। पिण्ड में परम व्योम मस्तिष्क है (श०प० ७।५।२), तो ब्रह्माण्ड में परम व्योम क्या होगा

यह आप स्वयं कल्पना कर सकते हैं। इस पर हम यहां अधिक विचार नहीं करना चाहते। 'परमव्योम' नाम से हमने एक पृथक् ही निबन्ध तैयार किया है, वह भी कभी पाठकों के सामने पहुंच जायेगा।

इस प्रकार हमने यह देखा कि ऋचाये परम-व्योम में विद्यमान है और वहां से ब्रह्माण्ड मे सर्वत्र प्रसारित की जा रही हैं। यही भाव जै० उ० ब्रा० के इस वाक्य मे है कि "तान्यादिवः प्रकीर्णान्य-शेरन्" ऋचायें द्युलोक तक बिखरी पड़ी है। वे सर्वत्र पहुंची हुई है। अब विचारणीय यह है कि इन्हे सुना कैसे जाये ? संक्षेप मे हम यह कह सकते है कि इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि श्रोत्रों में दिव्यता का आविर्भाव किया जावे। दिव्य-श्रोत्र सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा दूरस्थ ध्वनियों को सुनने में समर्थ हो सकते हैं।

श्रोत्र में दिव्यता के आविर्भाव के साधन व उपाय

अब हमारा आगामी विचारणीय विषय यह है कि श्रोत्र में दिव्यता के आविर्भाव के लिये हमें

किन साधनों का अवलम्बन करना चाहिये ? इस सम्बन्ध में संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि श्रोत्रोंमें दिव्यता के आविर्भाव के दो साधन हो सकते हैं। एक बहिर्वृत्तिजन्य साधन और दूसरा अन्तर्वृत्तिजन्य। पहले हम बहिर्वृत्तिके आधार पर विचार करते हैं।

उपनिषद् में आता है कि "सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत्" सदा नाद ब्रह्म का अनुसरण करते रहने से इन्द्रियों की वासना विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार "शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति" शब्द ब्रह्म में डुबकी लगाने वाला मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त करता है। इत्यादि उद्गार इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि ऐन्द्रिक वासना-विनाश तथा परब्रह्मप्राप्ति आदि बातों मे नाद व शब्दब्रह्म महान् सहायक है। यहां पर नाद से हमे अव्यक्त ध्वनि का ग्रहण करना चाहिये वर्णात्मक व्यक्त वाणी का नहीं। वैसे शब्द ब्रह्म मे अव्यक्त वाक् और व्यक्त वाक् दोनों समाविष्ट है। परन्तु इसमे भी अव्यक्त वाक् प्रमुख है। अव्यक्त में व्यक्त की अपेक्षा महती शक्ति है।

परन्तु प्रश्न यह है कि कैसे ? केवल इतने कथन मात्र से कि अव्यक्त मे व्यक्त की अपेक्षा महती शक्ति है समस्या का हल नहीं होता। क्योंकि इससे तो यह परिणाम निकलता है कि सब प्रकार की व्यक्त वाक्–चाहे वे वेदमन्त्र ही क्यों न हों–से अव्यक्त वाक् अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये इस सम्बन्ध में हम कुछ विस्तार से विचार करते है।

सृष्टि के हम किसी भी क्षेत्र पर दृष्टिपात करें, वहां हम यह पाते है कि व्यक्त से अव्यक्त की ओर जाने में ठोस से तरलता व ऋजुता में, रूप से अरूप में अधिक शक्ति है और वास्तविक सत्यता की प्राप्ति है। इस शक्ति को हम उदाहरणों से समझाने का प्रयत्न करते है। व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त और अरूप मे अधिक शक्ति है :—

[1]अथर्ववेद मे स्कम्भरूप ब्रह्म की दो शाखायें बतायी गई है एक असत् शाखा और दूसरी सत्

---

१ असच्छाखा प्रतिष्ठन्ती परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥
अथर्व० १०।७।२१

शाखा। वेद की दृष्टि मे असत् शाखा परम शाखा है जिससे कि [1]बृहन्त नामक देव पैदा होते है और दूसरी सत् शाखा अवर शाखा है। इस प्रकार इस स्थल पर असत् को हम अभावात्मक नहीं मान सकते। आधुनिक शब्दों में असत् (अस गतिदीप्त्यादानेषु) शक्ति (एनरजी) है। और सत् (मैटर) निष्क्रिय तत्त्व है। एक गति को सूचित करता है तो दूसरा स्थिति को। इन्हीं भावों को वेद के दूसरे शब्दों मे कहना चाहे तो अत्ता और आद्य कह सकते है। एक अन्न है और दूसरा अन्नाद है। असत् अव्यक्त है, अरूप है, शक्ति है और सत् मैटर है, मूर्त्ति रूप मे व्यक्त होता है, रूपवान् है और निष्क्रिय है। इसी प्रकार शब्दब्रह्म के व्यक्त वाक् की भी दो शाखायें है एक स्वर और दूसरा व्यंजन। इन वर्णो मे स्वर शक्ति है और व्यञ्जन मैटर है। इन्हीं स्वर और व्यञ्जन के विविध

---

१ बृहन्तो नाम ते देवा येऽसत. परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥
अथर्व० १०।७।२५

मेल से अनन्त शब्दसृष्टि का निर्माण होता है।

हमें यहां पर वर्णों में स्वरों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्योंकि स्वर शक्तिरूप है, एक प्रकार से नाद है और अव्यक्त है। इन्हीं के ध्वनिरूप मे अनुगमन से श्रोत्रों मे दिव्यता का आविर्भाव होता है। स्वर और व्यञ्जन की विशेषताओं और पारस्परिक सम्बन्धों को उपमाओं से दर्शाना चाहे तो तालिका मे इस प्रकार दिखा सकते है :—

स्वर	व्यञ्जन
प्राण	अस्थि
शक्ति	भेद
साम	ऋक्
अरूप	रूप
तरल	ठोस

इसी प्रकार और भी उपमायें दिखाई जा सकती है। इन सबको दिखाने का हमारा प्रयोजन यह है कि भूतसृष्टि, शब्दसृष्टि, वेदसृष्टि इत्यादि संसार के किसी भी क्षेत्र पर दृष्टिपात करें तो हमे यह प्रतीत होता है कि अव्यक्त अरूप और तरल अवस्थाओं मे अधिक शक्ति है और दिव्यता है।

स्थूल बुद्धि से किसी एक सिद्धान्त को निर्धारित कर उस पर चिपटे रहना, अपने को ठोस रूप दे लेना दिव्यता-प्राप्ति का चिन्ह नहीं है। दिव्यता-प्राप्ति के लिये हमें ठोसपना परित्याग कर ऋजु बनना पड़ेगा। क्योंकि संसार की सम्पूर्ण शक्तियां तरल है, ऋजु है, प्रवाही है। स्वरों के सम्बन्ध में हम यह कह सकते है कि स्वरों का रूप निश्चित नहीं है। जब ये स्वर व्यञ्जनों से मिलते है तो ये अपने रूप का परित्याग कर मात्रा रूप(ि, ु, ृ, े, ै)में मिलते है? दूसरी तरफ व्यञ्जन अपने रूप को नहीं छोड़ते। इसलिये व्यञ्जन ठोस है और स्वर अरूप व तरल है। इसी प्रकार संसार को हम दो भागों मे विभक्त कर सकते है एक शक्ति और दूसरे पदार्थ (मैटर)। जितनी भी शक्तियां है उनका रूप निश्चित नहीं है। सूर्य की किरणें शक्तिरूप है ठोसरूप नहीं है, ये पृथिवी पर पार्थिव सामग्री से विविध रूप रच डालती है। इसी प्रकार अग्नि आदि जितनी भी शक्तियां है उनका रूप निश्चित नहीं है। ये सब शक्तियां मैटर से एक मात्रा व माप से मिलती है। प्रत्येक मानवीय विज्ञानशाला

में भी किसी वस्तु के निर्माण व परीक्षण में अग्नि (हीट) आदि शक्तियों की मात्रा का ध्यान रखा जाता है। जिस प्रकार ये सांसारिक शक्तियां मैटर में मात्रा रूप में मिलती है और कुछ का कुछ बना देती हैं। इसी प्रकार स्वर भी व्यञ्जनों से मात्रा रूप में मिलकर अनेकों शब्दों का निर्माण करते हैं। अनन्त शब्दावलि प्रमुख रूप से स्वरों पर ही आधारित है। उदाहरण के रूप में धरा, धारा, धीर, धूर इत्यादि शब्दों मे व्यंजन तो ध और र ही है परन्तु स्वर-भेद से ये विभिन्न शब्द बन गये है और अर्थ भी बहुत विभिन्न हो गये हैं. "सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः. . .सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः" छा० उ० २।२२।३ अर्थात् सब स्वर बल के स्वरूप हैं और सब स्पर्श मृत्युरूप है।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्णो मे शक्ति रूप तो स्वर है, जो कि अर्थों की विभिन्नता मे मूलकारण हैं। प्राणी जगत् में भी यह अव्यक्त प्राण ही है जो कि इस शरीररूपी पिण्ड में रहता हुआ नवीन सर्जन में ब्रह्म को भी मात कर रहा है। वेदों में सामवेद को जो इतना महत्व दिया गया है,

वह सब स्वर के कारण ही है क्योंकि साम अ इ उ इत्यादि स्वरों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । ये अ इ उ आदि स्वर ही ऋचा को लेकर तोड़ फोड़ करते हैं । इससे ऋचा साम से सम्पर्क कर कुछ की कुछ बन जाती है । जिस प्रकार सूर्य शक्ति, मिट्टी से नाना रूप रच डालती है, उसी प्रकार साम के स्वर ऋक् रूपी मिट्टी को तोड़-फोड़ कर मन्त्र में नवीन रचना व शक्ति भर देते हैं । वैज्ञानिकों का यह कहना है कि सम्पूर्ण सृष्टि का अन्तिम रूप शक्ति (एनरजी) है । उसी प्रकार सम्पूर्ण वेद ओ३म्रूपी स्वरशक्ति मे समाविष्ट हो जाते हैं । जैसा कि वेदों के सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं कि वेदों का सार गायत्री मन्त्र है, गायत्री का सार महा-व्याहृतियां हैं और महाव्याहृतियों का सार ओ३म् है । और यह ओ३म् स्वर है । यह जो सब वेदों का सार ओ३म् को बताया है, यदि इस पर गम्भीरता से विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मन्त्ररूपी विविध रूपों को नष्ट कर उन्हें 'ओ३म्' रूपी अरूप अवस्था मे ले आये हैं । उपनिषद् की भाषा में "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति-

केत्येव सत्यम्" वाली बात है। वेदों का साक्षात्कार करने के लिये यदि हम 'ओ३म्' के गान व जप द्वारा अपने आपको श्रोत्र में ही एकाग्र कर लेवें तो श्रोत्र में दिव्यता का आविर्भाव हो सकता है। परन्तु हमें यहां पर इस बात का भी स्मरण रखना चाहिये कि 'ओ३म्' रूपी स्वर मात्राओं वाला है। मात्रा माप को कहते हैं। इसलिये ओ३म् की तीन मात्राये तो माप युक्त हैं। भगवान् का यह एक पादरूप है जो कि 'पादस्येहाभवत् पुनः' बार-बार पैदा होता और मरता है। (तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः) ओ३म् की तीन मात्राये मृत्युवाली हैं। इसलिये चतुर्थ अमात्रा रूप (यत् परः स महेश्वरः) ही वास्तविक परमेश्वर है। यही शब्द ब्रह्म है। जितनी व्यक्त ध्वनियां हैं वे तो शब्द ब्रह्म की सीमित शक्तियां हैं। इस शब्दब्रह्मरूपी महान् समुद्र के ये मन्त्र, शब्द और वर्ण आदि बुलबुले हैं। इनके द्वारा शब्दब्रह्म का सम्पूर्ण रूप ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये "शब्दब्रह्मणि निष्णातः" में शब्दब्रह्म का यह भाव नहीं है कि वर्णों से निष्पन्न शब्द ही पूर्ण शब्दब्रह्म है। शब्दब्रह्म तो एक प्रकार का

अव्यक्त ध्वनि का व्यापक समुद्र है जिसमे से बुल-बुलों की तरह स्फोट होते रहते है। इसलिये शब्द-ब्रह्म मे निष्णात बनने के लिये जहां मन्त्र व ओ३म् आदि और उपाय है वहां एक उपाय यह भी प्रतीत होता है कि श्रोत्र मे सर्वशक्ति से पहुंचकर अव्यक्त ध्वनि का अनुसरण किया जाय। वह अव्यक्त ध्वनि वीणा, तानपुरा व सितार आदि की हो सकती है विद्या की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती' के करकमलों मे भी प्राचीन कलाप्रेमी ऋषियों ने वीणा ही पकड़ायी है। वेद मे भी कहा है कि—"स्वरन्ति ते बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निसते" अर्थात् बहुत से मनीषी लोग स्वर (ध्वनि) लगाते है और इस प्रकार इस भुवन के राजा भगवान् का चुम्बन करते है। स्वर (अव्यक्त ध्वनि) भगवान् का रूप ही है। ओष्ठों से वह गुजरता है, इस प्रकार ओष्ठों से उसका स्पर्श होता है, ओष्ठों से यह भगवान् का चुम्बन है। इसलिये स्वर मे तन्मयता श्रोत्रों मे दिव्यता के आविर्भाव का साधन तो है ही परन्तु पूर्णब्रह्म की प्राप्ति मे भी महान् सहायक है। एक उपाय यह भी हो सकता है कि ब्रह्माण्ड मे व्याप्त

झँ,झँ, ध्वनि जो कि निरन्तर कानों मे झंकृत होती हुई प्रतीत होती है उसी पर मन को केन्द्रित कर दिया जाय। मैत्रायणी१ आरण्यक में आता है कि मनुष्य को द्विविध ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये एक शब्द-ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। यह शब्दब्रह्म ही परब्रह्म का आविर्भाव करने वाला है। उदाहरण रूप मे ओ३म् शब्द को लिया जा सकता है। ओ३म् शब्द की ध्वनि का अनुसरण करता हुआ मनुष्य ध्वनि की समाप्ति पर अशब्दावस्था अर्थात् शून्यावस्था मे जा पहुंचता है जो कि—'अपूर्वेणेषिताः" अथर्व—मन्त्र मे हम दर्शा चुके है कि ये अपूर्व से प्रेरित वाणियां जहां निधन को प्राप्त होती है वही ब्रह्म है। यही भाव यहां पर भी है। यही गति है, यही अमृत है, यही भगवान् से मिलन है, यही निवृत्ति है। जिस प्रकार मकड़ी जाल बनाने के पश्चात् ऊपर पहुंच कर अवकाश प्राप्त करती है उसी प्रकार 'ओ३म्'

१—अथान्यत्राप्युक्तं द्वे वाव ब्रह्मणी अभिध्येय शब्दश्चाशब्दश्चाथ शब्देनैवाशब्दमाविष्क्रियते० मै० आ० ६।२२॥

ध्वनि के ध्यान द्वारा परब्रह्म में प्रविष्ट हुआ मनुष्य स्वातन्त्र्यलाभ करता है और संसार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। कई शब्दवादियों का यह भी कहना है कि कानों को दोनों अंगूठों से बन्दकर हृदयाकाश में हो रहे नाद को सुनना चाहिये। इस नाद की तुलना वे सात प्रकार की ध्वनियों से करते हैं। नदी,घण्टी, कांसी, चक्र, भेक, विष्कुन्धिका तथा वृष्टि निर्वात इत्यादि विभिन्न ध्वनियां हैं। ये विभिन्न ध्वनियां अव्यक्त शब्दब्रह्म में विलीन होने पर एकरूप हो जाती हैं, वही सर्वश्रेष्ठ रूप है। जिस प्रकार कि वृन्दवादन (ओरकैस्ट्रा) ध्वनि भिन्न-भिन्न ध्वनि होते हुये भी एकरूपता को धारण कर लेती है। यही सर्वश्रेष्ठ रूप है, यही प्राप्तव्य है (मै. आ. ६।२२)।

ओ३म् में सब वेदो का सार है

इस उपर्युक्त वर्णन मे एक प्रश्न और पैदा होता है, जिसका समाधान करना भी आवश्यक है कि ओ३म् मे सब वेदों का सार है—यह कैसे संभव है? इस सम्बन्ध मे शास्त्र तो कहते ही है कि ओ३म्

शब्द मे सब वेद समाविष्ट है, परन्तु हम यहां शास्त्र-प्रमाण न देकर मानवीय अनुभव के आधार पर उस पर कुछ प्रकाश डालना चाहते है। प्रायः मनुष्य इस बात को स्वीकार करेगे कि रात्रि के समय स्वप्न के एक क्षणिक प्रभाव—(इम्प्रेशन) जो कि दृश्य या श्रुत रूप मे होता है—को यदि लिखना व सुनना चाहें तो वह एक विस्तृत रूप धारण कर लेता है। इस पर यह शंका पैदा होती है कि एक क्षण में तो मुश्किल से एक ही शब्द बोला जा सकता है तो फिर यह विस्तृत शब्द समूह कहां से निकल आया? इस पर हम भी यही अनुमान लगा सकते है कि एक दैवीय शब्द के गर्भ में सब कुछ सन्निहित था। इसी प्रकार समाधिरूपी निद्रा में पहुंचकर योगी इस बात को स्पष्ट रूप से जान सकता है कि किस प्रकार एक ओ३म् से सम्पूर्ण वेदराशि निकल आयी। इसलिये जब लोक मे हम स्वप्नगत वाणी का दैवीय अनुभव करते है तो वेदरूपी भगवान् की वाणी का तो कहना ही क्या। इससे सम्बद्ध एक और प्रश्न पैदा हो सकता है, उसके सम्बन्ध में भी दो शब्द हम कह देना उचित समझते है

और वह यह है कि—

क्या मन्त्रध्वनि का साक्षात्कार वैखरी रूप में ?

इस सम्बन्ध मे हम निश्चित तौर पर कुछ नहीं कह सकते कि मन्त्रध्वनि का साक्षात्कार वैखरी रूप मे होता है कि नहीं। क्योंकि सब मनुष्यों के अनुभव मे आई यह स्वप्नगत वाणी वैखरी से स्पष्टरूप से भिन्न है। एक क्षण मे ही इतनी बात कह दी जाती है और मनुष्य द्वारा सुन ली जाती है कि यदि जागृतावस्था में पहुंचकर अन्य मनुष्यों को यह स्वप्नगत वाणी सुनाना चाहें तो उस क्षणिक बात के सुनाने मे कई मिनट लग जाते है और घण्टों तक लग सकते है। यह स्वप्नगत वाणी भी एक प्रकार की वाणी है जो वैखरी से भिन्न है। दूसरे स्वयं वेद ही चार प्रकार की मनुष्य मे रहने वाली वाणी बताते है। यथा "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि०" ऋ० १।१६४।४५। चार प्रकार की वाणियां है इनमें तीन वाणियां तो गुह्य स्तर में है जो अत्यन्त सूक्ष्म है और जो चौथी वैखरी वाणी है उसे मनुष्य बोलते

है जिसे मनुष्य इन स्थूल कानों से सुनता है। परन्तु गुहा में स्थित अवशिष्ट तीन वाणियों को सुनने के लिये मनुष्य को कर्णेन्द्रिय के भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भागों को जागृत करना पड़ेगा।

ऋ० १०।७४।४,५ ये दो मन्त्र वाक् के दर्शन और श्रवण इन दो रूपों को दर्शा रहे हैं। अर्थात् वाक् का श्रवण तो होता ही है। पर दर्शन भी होता है हमारे विचार मे यह दर्शन आन्तरिक सूक्ष्म वाक् का है और श्रवण से यहां तात्पर्य सामान्य वैखरी वाक् के श्रवण से नहीं है। यह भी आन्तरिक सूक्ष्म वाक् का श्रवण है। मनुष्य जिस वाक् का प्रयोग करते हैं वह तो प्राय: पुष्पफल रहित है। मनुष्य प्राय: अनृतवाक्, व्यर्थ बकवास ही किया करते हैं। ये दोनों मन्त्र सूक्ष्म वाक् की ओर निर्देश करते हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

उत त्व:-पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्
न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासा:" ॥

"उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः नैनं हिन्व-न्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।

अतः वेद की ऋचाओं का श्रवण हृदय के गुह्यस्तर में पहुंचकर होता है । और यह भी हम निस्संकोच कह सकते हैं कि उसका दर्शन भी होता है ।

वेदों के साक्षात्कार का कारण हृदय है या श्रोत्र

कईयों के मन में यह शंका पैदा हो सकती है कि वेदों के साक्षात्कार का कारण हृदय तो हो सकता है श्रोत्र नहीं । क्योंकि श्रोत्र तो वाणी के बाह्यरूप वैखरी को ही सुन सकता है, परन्तु वेदों के साक्षात्कार में वह कारण नहीं बन सकता, जैसा कि शास्त्रकार भी कहते हैं कि "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये सम्बभूव" गो० ब्रा० १।६

अर्थात् यह सर्वश्रेष्ठ वेद तप के प्रभाव से ब्रह्मज्ञानियों के हृदय में प्रकट हुआ । इस प्रकार शास्त्र वेदों के साक्षात्कार का स्थान हृदयस्थली बताते हैं । इस पर हमारा निवेदन यह है कि इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है । जिस प्रकार स्वप्नावस्था में सब इन्द्रियां मन में सन्निहित होती हुई स्वप्नों को देखती है उस अवस्था में हम ये दोनों कथन कर सकते है कि मन ने स्वप्न देखा अथवा अमुक इन्द्रिय सम्बन्धी स्वप्न आया । उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये । समाधि अवस्था में सब इन्द्रियां इस स्थूल शरीर से सिमट कर हृदय-केन्द्र में आ पहुंचती है । हृदय एक महान् जगत् है, आत्मा का निवास स्थान है । इसमें सब इन्द्रियों के जाल बिछे हुये हैं, जिस इन्द्रियरूपी डोरी को हिलाया जायेगा उसी ऐन्द्रियिक शक्ति का केन्द्र हृदय मे जागरित हो जायेगा । इसलिये हृदय के श्रुति केन्द्र को जागरूक करने के लिये हमे स्थूल श्रोत्र से ही चलना पड़ेगा । वह केन्द्रग शक्ति को जगाने की डोरी है । इस सम्बन्ध में हमे एक बात का और ध्यान रखना चाहिये कि आत्मा का सीधा सम्बन्ध

श्रोत्र से है।

आत्मा का श्रोत्र से सम्बन्ध

ऐ० ब्रा० ६।२४ में आता है कि "प्राणं च तद्वाचं च विहरति, चक्षुश्च तन्मनश्च विहरति, श्रोत्रं च तदात्मानं च विहरति" अर्थात् प्राणवायु और वाणी का मेल, चक्षु और मन का मेल तथा श्रोत्र और आत्मा का मेल करता है। इस प्रकार यहां स्पष्ट रूप से श्रोत्र और आत्मा का मेल बताया है। और भी ग्रन्थों में श्रोत्र और आत्मा के मेल को बताया गया है। क्योंकि आत्मा का हृदय के साथ संबंध है। अतः श्रोत्र का हृदय के साथ भी शास्त्रों में सम्बन्ध बताया गया है। यथा 'श्रोत्रं हृदये (श्रितम्)' तै० ३।१०।८।६॥

श्रोत्र में एकाग्रता से दिव्यता-प्राप्ति

वीणा, सितार आदि वाद्ययन्त्रों की ध्वनि का दूर तक अनुसरण करने से श्रोत्र की शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है। क्योंकि ध्वनि-तरंग जो कि आकाश मे दूर होती जाती है वह मन्द्र, मन्द्रतर रूप को धारण करती जाती है। धीमी होती हुई इस ध्वनि को

देर तक सुनने में हमारे श्रोत्र में दो क्रियायें होती हैं। एक तो मन अधिकतम रूप में एकाग्र व केन्द्रित होता जाता है और दूसरे श्रोत्र की प्रसुप्त शक्ति को उत्तेजित किया जाता है। श्रोत्र में मन के एकाग्र होने पर अपान क्रिया सुचारू रूप से प्रारम्भ होती है जिससे श्रोत्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म मल विनष्ट हो जाते हैं। श्रोत्र का आवरण समाप्त हो जाता है। योगदर्शन के विभूतिपाद में सूत्र है—"श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद् दिव्यंश्रोत्रम्" अर्थात् श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम से दिव्य श्रोत्र की उत्पत्ति होती है। 'सम्बन्ध-संयम' का भाव यह है कि श्रोत्र और आकाश का निरन्तर सम्बन्ध बना रहे, सम्बन्ध को रोके रखना, सम्बन्ध टूटने न पावे। 'इन्द्रिय-संयम' का भी यही भाव है कि इन्द्रिय को रोके रखना। श्रोत्र और आकाश का निरन्तर सम्बन्ध बना रहे इसके लिये सबसे उत्कृष्ट उपाय यही है कि हृदयस्थनाद, ब्रह्माण्ड में झंकृत शब्द अथवा वीणा आदि शब्दों का अनुसरण ये सब साधन हैं। यहां एक शंका पैदा हो सकती है कि यह तो बहिर्वृत्ति है इससे दिव्यता का आविर्भाव कैसे संभव

है ? इस सम्बन्ध मे एक निवेदन तो यह है कि मन बहुत चञ्चल है । यह क्षण-क्षण मे विभिन्न विषयों का स्वाद लेता है । यह विषयास्वादन देर तक नहीं टिक सकता । यदि मन का एक ही इन्द्रिय से निरन्तर सम्बन्ध बना रहे तो तद्विषयक रसास्वाद ही समाप्त हो जाता है । तद्विषयक अशनया ही समाप्त हो जाती है । इसी बात को दृष्टि मे रख कर शास्त्रकार कहते है 'अन्नेनाशनयां घ्नन्ति' जै०उ० १।१।३।४ अर्थात् ऐन्द्रियिक अशनया को अन्न दे कर शान्त करो । इस शास्त्रवचन से मनोवैज्ञानिक विद्वान् फ्रायड के इच्छा पूर्ति के सिद्धांत (विशफुलफिलमेंट) की पुष्टि होती है ऐसा कई विद्वानों का विचार हो सकता है । यह किसी अंश मे ठीक भी हो, परन्तु श्रोत्र मे दिव्यता की उत्पत्ति के लिये यह व्याख्या ठीक न होगी । फ्रायड का सिद्धांत तो "हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" से मिलता-जुलता है । अशनया का विनाश तो उसी अवस्था मे हो सकता है जब कि एक ही इन्द्रिय का तद्विषय से निरन्तर सम्बन्ध बना रहे । 'सम्बन्ध-संयम' का यही भाव है और यही रहस्य है । ब्राह्मण ग्रन्थ का अन्न-

द्वारा अशनया विनाश का भी यही तात्पर्य है। और जो यह इन्द्रिय का विषय के साथ निरन्तर सम्बन्ध बना रहने पर भी बहिर्वृत्ति का आक्षेप किया जाता है। यह बहिर्वृत्ति योगदर्शन के अनुसार अकल्पिता वृत्ति बन जाती है। जैसा सूत्र मे कहा भी है कि "बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः" जब मनुष्य की वृत्ति बाहिर की ओर विषयों मे जाती है तब मनुष्य को यह ज्ञान रहता है कि मैं अमुक इन्द्रिय द्वारा बाहिर की ओर प्रवाहित हो रहा हूं। परन्तु जब विषय से निरन्तर सम्बन्ध बना रहेगा तब वृत्ति के बाहिर प्रवाहित होने पर भी अनासक्ति का भाव पैदा होगा। और फिर शनैः शनैः वृत्ति बाहिर जाती हुई भी बाहिर को नहीं जायेगी। खाता हुआ भी नहीं खा रहा, पीता हुआ भी नहीं पी रहा। 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्' की स्थिति हो जायेगी।

इस प्रकार हमने इस लेख में वेदों के साक्षात्कार के लिये श्रोत्र को साधन बताया है। श्रोत्र मे दिव्यता के आविर्भाव से ही मन्त्रों का दिव्य श्रवण हो सकता है यह पुष्ट करने का प्रयत्न किया।

यह बहिर्वृत्तिजन्य साधन है । वेदों के साक्षात्कार का अन्तर्वृत्तिजन्य साधन तथा मन्त्रों का दिव्य दर्शन इत्यादि विषयों पर फिर कभी प्रकाश डालेंगे । 'श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म' श० प० १४।६।२०। १२ । इत्यलम् ॥

—०—

सामवेद की वेद के रूप में आवश्यकता

सामवेद का स्मरण आते ही स्वभावतः मन में एक शंका पैदा होती है कि सामवेद की वेद के रूप में पृथक् आवश्यकता भी है कि नहीं? कारण यह है कि उदाहरण के तौर पर यदि हम सामवेद के कुल मन्त्रों की संख्या १८७५ मान लेवे तो इनमे केवल ६९ मन्त्र ही सामवेद के अपने हैं और सब मन्त्र ऋग्वेद मे आ जाते है। इससे कई विद्वान् सामवेद की पृथक्ता मे सन्देह करने लगे है। उनका यह भी कहना है कि ये ६९ मन्त्र, जो कि विद्यमान ऋग्वेद-संहिता में नहीं आये है, ऋग्वेद की किसी अन्य शाखा संहिता मे अवश्य होंगे। और फिर आधुनिक वैदिक अनुसन्धान मे कोई भी विद्वान् सामवेद को उठाकर नहीं देखता। ६९ मन्त्रो के लिये कोई उठाकर देख लेवे तो अलग बात है। वैसे सचाई यह है कि आधुनिक वैदिक शोध मे सामवेद का कोई स्थान नहीं है।

सामगान के लिये उनका यह कहना है कि ऋग्वेद मे और भी ऐसे मन्त्र है जिन पर सामगान का नोटेशन लगाया जा सकता है। प्राचीन ऋषियों ने वे मन्त्र चुन लिये थे जिनको आज सामवेद नाम से कहा जाता है। आधुनिक विद्वान् यदि चाहे तो सामगान के लिये इन सामवेद मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य मन्त्र भी चुन सकता है और इन मन्त्रों को छोड़ा जा सकता है। यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। एक प्रकार से सामवेद को पृथक् रखने की परम्परा चली आ रही है। वैसे सामगान की दृष्टि से भी सामवेद की पृथक् आवश्यकता नहीं है इत्यादि बहुत सी बातें सामवेद के सम्बन्ध में कही जाती है। इन सब बातों पर विस्तार से तो यहां विचार नहीं किया जा सकता। संक्षेप मे हम अपने विचार रखते है।

प्राचीन युग मे सामवेद की महिमा

प्राचीन समय की ओर हम दृष्टिपात करे तो हमे यह दिखाई देता है कि उस समय अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद की ही अधिक महिमा थी।

भगवान् कृष्ण ने तो श्रीमद्भगवद्गीता में अन्य वेदों को न लेकर सामवेद को ही अपना स्वरूप बताया है। (वेदानां सामवेदोऽस्मि) और फिर वेदों में हमें सामवेद की ही हजारों शाखाओं का वर्णन मिलता है।(सहस्रवर्त्मा सामवेदः) अन्य वेदों की तो सामवेद की अपेक्षा बहुत ही थोड़ी शाखायें हैं। इससे यह पता चलता है कि ब्राह्मणादि वर्ण अधिकतर सामवेद का ही प्रमुखरूप से अध्ययन करते थे। और तै० ब्रा० ३।१२।६।२ में जहां वेदों से सब वर्णों की उत्पत्ति बतायी गई है वहां सामवेद से ब्राह्मणों की उत्पत्ति बतायी है (सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः)। इसका भाव यह है कि ब्राह्मण लोग वेदों का अध्ययन करते थे, परन्तु ब्राह्मणत्व में सामवेद ही कारण था। इससे यह भी परिणाम निकल सकता है कि सामवेद तो सब ब्राह्मणों को पढ़ना ही पड़ता था चाहे वे अन्य वेद पढ़ें या न पढ़ें। क्योंकि ब्राह्मणत्व का आधार सामवेद ही है। इस प्रकार चाहे कुछ भी परिणाम निकालें, इससे यह स्पष्ट है कि सामवेद की महिमा प्राचीन समय में अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक थी। इसी प्रकार सामवेद

की प्रमुखता में और भी कई बातें दिखाई जा सकती हैं जिनको हम फिर कभी आपके सामने रक्खेंगे। इस प्रकार वैदिक विचार की दृष्टि से आधुनिक युग और वैदिक युग में कितनी विभिन्नता है यह पता चलता है।

विभिन्नता का कारण

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि प्राचीन युग में सामवेद का इतना महत्व क्यों था ? और अब क्यों नहीं है ? इस विभिन्नता का कारण हमें तो ऋग्वेद व सामवेद के असली रूप को न जानना ही प्रतीत होता है। सामवेद पर विचार करते हुये प्रायः विद्वान् सामयोनि मन्त्रों को ले लेते हैं। परन्तु देखा जाये तो सामवेद में सामयोनि मन्त्रों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। यह तो उसी प्रकार समझना चाहिये कि पुरुष पर विचार करते हुये हड्डी या मुर्दे को तो ले लेवें परन्तु असली पुरुष-रूप आत्मा व प्राण को न लेवें। इसी प्रकार सामवेद में सामयोनि मन्त्र तो हड्डी या ढांचा है। (ऋग-स्थिः साम प्राणः—शतप० ब्रा० १४।४।३।१२,

७।५।२।२४, १।६।३।२९,३०) अथवा ऋक् सामग्री है। संसार की मूर्तियां इसी से बनी है (ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। तै० ब्रा० ३।१२।९।१) और साम अर्थात् प्राण इस ऋक्-रूपी सामग्री को लेकर नाना प्रकार के रूप बना रहा है। जिस प्रकार सूर्य पृथिवी पर आकर नाना प्रकार के रूप व विकृतियां कर देता है। पृथिवी तो केवल जड़ की तरह स्थिर पड़ी रहती है। यह सूर्यही ठोकपीट कर नाना शरीरों का निर्माण कर रहा है। इसमे पृथिवी का क्या महत्त्व, सूर्य का ही महत्त्व है। इसी प्रकार सामवेद मे ऋचा का क्या महत्त्व यहां तो साम का महत्त्व देखना चाहिये और फिर सूर्य द्वारा निर्मित ये पार्थिव विकृतियां मनुष्य व अन्य प्राणियों के शरीर, तथा औषधियों, व वनस्पतियों के शरीर आदि कोई असत्य नहीं है, और नाचीज भी नहीं है। इसी प्रकार साम ऋचा मे आकर जो विकृतियां कर देता है वे विकृतियां भी नाचीज नहीं है जिनकी हम लापर-वाही कर सकें।

क्या ऋग्वेद के मन्त्र सामवेद में गए है ?

जो यह कहते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र सामवेद मे गये हैं उनसे हमारा निवेदन यह है कि वेदों व अन्य शास्त्रों की अन्तःसाक्षी तो यही कहती है कि जिस प्रकार अन्य वेद भगवान् से आये, इसी प्रकार सामवेद भी भगवान् से आया। इसलिये अन्तः-साक्षी के आधार पर तो यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ऋषियों ने सामगान के लिये ऋग्वेद से ऋचाओं को चुनकर पृथक् सामवेद का निर्माण किया। और फिर ऋक् और साम का वेदों व छान्दोग्योपनिषद् आदि ग्रन्थों मे उपमाओं द्वारा जो परस्पर सम्बन्ध बताया है उससे हम किसी और ही परिणाम पर पहुंचते हैं। उदाहरण के तौर पर दो एक उपमायें इसप्रकार दिखाई जा सकती है-- स्त्री ऋक् है, पुरुष साम है। पुरुष से तो स्त्री मे वीर्य जाकर निर्माण शुरू होता है। स्त्री से पुरुष में क्या जाना हुआ ? इसी प्रकार सूर्य (साम) से पृथिवी (ऋक्) पर तो शक्ति आ रही है।

परन्तु पृथिवी से सूर्य में क्या पहुंचना हुआ ? इसी प्रकार अन्य उपमाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। इसलिये ऋग्वेद के मन्त्रों का सामवेद में आना-जाना कुछ नहीं है। इसके विपरीत उपमाओं को देख कर यदि कोई यह कहना चाहे कि सामवेद में जो ऋक् भाग है वह ऋग्वेद में चला गया है परन्तु ऋग्वेद के मन्त्र सामवेद मे नही आये तो उसकी बात अधिक युक्तिसंगत होगी। छान्दोग्योपनिषद् में जो यह कहा गया है 'या ऋक् तत्साम' अर्थात् 'जो ऋक् है वही साम है' इसका भाव यह नहीं कि यहां उपनिषत्कार को ऋग्वेद व सामवेद के मन्त्रों में अभिन्नता अभिप्रेत है। मन्त्रों की दृष्टि से यह वाक्य नहीं है। यह तो साममन्त्रों की विकृति अवस्था का वर्णन है। जिस समय ऋक् और साम दोनों घुले-मिले होते हैं,वहीं यह वाक्य चरितार्थ हो सकता है। इसको हम उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

छान्दोग्योपनिषत् के इस उपर्युक्त वाक्य से पहले यह वाक्य आता है कि "या वाक् सा ऋक्" अर्थात् जो वाणी है वही ऋक् है। इसको हम इस

प्रकार समझ सकते हैं कि जब वाणी अपने वाक् रूप में रहती है तो उसे ऋक् नहीं कह सकते। इसी प्रकार ऋक् को वाक् नहीं कह सकते। परन्तु जब ऋचा वाणी पर आरूढ़ होती है, दूसरे शब्दों में जब वाणी से ऋचा का उच्चारण करते हैं, तब वाक् और ऋचा दोनों आपस में घुलमिल जाती हैं। एक प्रकार से इन दोनोंमे अभेद हो जाता है, तभी यह कह सकते हैं कि 'या वाक् सा ऋक्'। इसलिये यह वाक्य इन दोनों के सम्मिलन को बताने के लिये है और यही सम्मिलन 'ब्रह्म' परिभाषा में है। "यदा त्रयं विन्दते ब्रह्ममेतत्" जब जीव प्रकृति तथा परमात्मा तीनों का मेल हो जाता है उस विशेष अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। यहां पर भी गौणीवृत्ति से यह कहा जाता है कि जो जीव है वही ब्रह्म है या सब कुछ ब्रह्म है। इसी प्रकार 'या ऋक् तत्साम' वाक्य भी ऋक् और साम के परस्पर सम्मिलनों को बता रहा है। परन्तु यदि और गम्भीरता से विचार किया जाये तो ऋचा और साम का मेल हो जाना या भेद हो जाना यह तो सब काल्पनिक है। संसार में हम यह देखते हैं कि जिनका नित्य

सम्बन्ध होता है वहां भी भेद की कल्पना कर ली जाती है। छान्दोग्योपनिषत् में ही ऋक् और साम का नित्य सम्बन्ध माना है। इस उपनिषत् पर भाष्य करते हुये श्री शंकराचार्य ने 'पृथिव्यग्निद्वयं नित्य-संश्लिष्टमृक् सामनी इव' ऐसा लिखा है। इसमें पृथिवी और अग्नि को ऋक् और साम की तरह नित्य संश्लिष्ट माना है। पृथिवी और अग्नि को हम कल्पना में तो पृथक् कर सकते हैं, परन्तु पृथिवी को अग्नि से पृथक् करके दिखा दें यह हो नहीं सकता। बिना अग्नि के पृथिवी एक क्षण भी ठहर नहीं सकती। इस प्रकार ऋक् साम का भी नित्य सम्पर्क है। पार्थक्य तो एक काल्पनिक मन्तव्य है। क्योंकि सामवेद में बिना साम के ऋक् रह ही नहीं सकती। और वेदों की अन्तःसाक्षी तो सामवेद को भी भगवान् से उसी प्रकार से आया हुआ मानती है, जिस प्रकार अन्य वेद आये और वह रूप ऋक् और साम का नित्य संश्लिष्ट रूप ही हो सकता है। क्योंकि केवल ऋचा साम नहीं हो सकती। और उपमाओं से यह सिद्ध होता है कि जो कुछ भी जाना चाहिये वह सामवेद से ही ऋग्वेद में जाना चाहिये।

ऋग्वेद से सामवेद में कुछ नहीं जा सकता। एक और कल्पना है, वह यह कि यदि हम यह भी मान लेवें कि 'वेद त्रयी' की उत्पत्ति अग्नि, वायु तथा सूर्य से हुई है। अपनी परीक्षाशाला (अध्यात्म परीक्षा-शाला) में बैठे ऋषियों ने वेदत्रयी के दर्शन किये। उन्हें सामवेद का सम्बन्ध सूर्य से दिखाई दिया होगा। शास्त्रों ने भी सामवेद का द्युलोक से सम्बन्ध माना है। इस उपमा से हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सूर्य पृथ्वी पर आ रहा है। केवल उसका मण्डल (बिम्ब, घेरा) वहीं बचा रहता है। अतः सूर्य का प्रतिनिधित्व करने वाले साम के ही सम्पूर्ण मन्त्र ऋक् में जाने चाहियें। न कि ऋग्वेद के मन्त्र सामवेद मे जाने चाहियें।

और यदि हम उन आधुनिक विद्वानों के दृष्टि-कोण से भी वेदों पर विचार करें, जो कि वेदों को परमात्मा का ज्ञान न मानकर ऋषिकृत मानतेहैं और यह मानते हैं कि ऋग्वेद मे से साम-गान सम्बन्धी ऋचाओं को चुनकर वेद के रूप में एक पृथक् सामवेद बना लिया है तो इनके मत में भी सामवेद में ऋक् का कोई मूल्य नहीं है। सामवेद की गति या

आत्मा तो साम अर्थात् स्वर ही है। इसलिये यदि हम ऋचाओं का अर्थ कर भी दें तो सामवेद का वह अर्थ नहीं हुआ। इस प्रकार सामवेद ऋग्वेद हो जाता है। वैसे आजकल हो भी यही रहा है कि प्रायः विद्वान् चारों वेदों को एक किये हुये है। ऋक् का ऋक्त्व क्या है? यजुः का यजुष्ट्व क्या है? और साम का सामत्व क्या है? इत्यादि बातों पर कोई विचार नहीं करता। इस लिये अब फिर महर्षि वेदव्यास की आवश्यकता है, जो कि एक हुये वेद को ४ में विभक्त कर देवें। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि महर्षि वेदव्यास के समय भी चारों वेदों की यही अवस्था हो गई होगी। सामवेद का असली अर्थ तो गान-क्रियामे है। ऋक् स्थूल है तो साम सूक्ष्म है। हम जब तक सूक्ष्मता मे प्रवेश न करेंगे तब तक हम साम की सृष्टि को न जान सकेंगे। कोई यह कह सकता है कि ये साम विकृतियां ही संसार के विभिन्न रूपों की शाब्दिक प्रतिकृति है। या संसार मे जो प्राण की विविध सृष्टियां है उन्हीं के ये साम-रूप है। कोई इनसे भी बढ़कर यह कह सकता है कि विविध २ प्रकार के सामों द्वारा प्रकृति मे हम

विभिन्न २ प्रकार की रचनायें कर सकते हैं। शास्त्रों में भी ऐसा बहुत वर्णन आता है, वहां वेदों व मन्त्रों से संसार का निर्माण बताया है। यह विषय बहुत गहन है इस पर हम फिर कभी लिखेंगे।

साम के कई अवयव हैं उन सब पर विचार हो तो साम पर पूर्णरूप से विचार हो सकता है। यहां उन सब पर तो विचार हो नहीं सकता। परन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साम की आत्मा व निजरूप स्वर है। इस स्वर पर विचार कर लिया जाये तो यह समझना चाहिये कि साम पर बहुत कुछ विचार कर लिया गया। स्वर से हमारा तात्पर्य सामगान व संगीत स्वर से है। यह हमने अपनी 'बलासुर-वध' पुस्तक के "स्वर में शक्तियां" नामक अध्याय में दर्शाया है। कई विद्वानों ने सामवेद पर लिखा और भाष्य तक किया, परन्तु उन्होंने स्वर को अत्यधिक नगण्य माना। ये उनके अपने विचार हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रों के आधार पर हम तो साम (स्वर) की बड़ी शक्ति मानते हैं। शब्द, ध्वनि, स्वर का प्रकृति पर कितना अधिक प्रभाव है?

यह वेदादि शास्त्रों में तो है ही। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् भी इसकी शक्ति को मानते हैं और अपनी परीक्षाशालाओं में निरन्तर परीक्षा कर रहे हैं। परन्तु अपने यहां के वेदादि शास्त्रों के उच्च कोटि के विद्वान् सामवेद को भक्ति का ग्रन्थ मान कर स्वर को अत्यन्त नगण्य समझते हैं। उनसे हमारा निवेदन यह है कि यदि सामवेद की भक्तिपरक अर्थ में ही समाप्ति है तो क्या ऋग्वेद मना करता था कि ऋग्वेद में रहते हुये मन्त्रों के भक्तिपरक अर्थ न करो? इससे तो सामवेद को वेद के रूप में पृथक् मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। परन्तु प्राचीन ऋषियों ने स्वर की महिमा को जाना और उसकी शक्ति का प्रत्यक्ष किया।

स्वर एक बहुत बड़ा विषय है। यह शब्द व ध्वनि के अन्तर्गत ही है। इसलिये इसकी शक्ति व सामर्थ्य को जानने के लिये हमें शब्द व ध्वनि पर पूर्ण विचार करने की आवश्यकता है। अब हमें यह चाहिये कि प्राचीन साहित्य में शब्द व ध्वनि के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उस सम्बन्ध में परीक्षा करें। केवलमात्र प्रमाणों से व पुस्तकी

ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाना पर्याप्त नहीं है। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में जो विविध २ प्रकार के सामों की शक्तियां बताई हैं, उनका परीक्षाओं द्वारा निश्चय कर व प्रमाणित कर आधुनिक वैज्ञानिक जगत् में रखना होगा। तभी वैदिक साहित्य की वास्तविक उन्नति होगी। शब्द की शक्ति बताने के लिये भारतीय साहित्य में बहुत सी किंवदन्तियां प्रचलित हैं। उदाहरण के तौर पर दो एक किंवदन्तियां इस प्रकार हैं कि—भृङ्गी किसी भी कीड़े को अपनी मिट्टी की गुफा में चारों ओर से बन्द कर गुञ्जारती है और उस गूञ्ज व शब्द से कीड़े का रूप बदल कर भृङ्गी का रूप हो जाता है। बलाका बादल की गर्जना से गर्भ को धारण करती है। इसी प्रकार वेद में से भी शब्द की शक्ति व सामर्थ्य बताने वाली किंवदन्तियां दिखाई जा सकती हैं। कहने का भाव यह है कि शब्द की इस महान् शक्ति को सत्य सिद्ध करने के लिये हमें केवलमात्र पुस्तकी ज्ञान पर ही संतोष न कर लेना चाहिये। अपितु अपने जीवन को परीक्षा-मय बनाकर इनकी सत्यता सिद्ध करनी चाहिये। इतना तो साधारण आदमी भी समझ सकता है

कि शब्द व ध्वनि का प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, और उसमें परिवर्तन हो जाता है। जब मिलिटरी का बैण्ड बजता है तो शूरवीरों के अंग फड़कने लगते हैं। करुणाजनक संगीत हो रहा हो तो मनुष्य का हृदय द्रवित हो जाता है और वह रोने लगता है। भला उनसे पूछो कि बैण्ड के स्वर से तुम्हारे अंग क्यों फड़कने लगे और संगीत से क्यों रोने लगे। प्रकृति में संघर्ष व रगड़ आदि से तो क्रियाये प्रारम्भ होती हैं तो यहां किसकी रगड़ हुई? कोई यह कहे कि संगीत का मन पर असर हुआ इससे अंग फड़कने लगे। इस पर भी प्रश्न वैसा का वैसा ही बना रहता है। मन पर ही क्यों असर हुआ और मन भी तो प्राकृतिक है। स्थूल दृष्टि से कहना चाहे तो यह कह सकते हैं कि ध्वनि का स्वर मन पर जाकर टकराया और मन मे तदनुकूल गतियां प्रारम्भ हो गईं। और इस मन की गति के अनुकूल स्थूल शरीर में गतियां व क्रियायें होने लगीं। इस प्रकार शब्द व ध्वनि से ही सम्पूर्ण संसार की क्रियायें हो रही हैं। मनुष्य समाज के सब व्यवहार शब्द पर ही आश्रित हैं। किसी भी चीज का स्थूल सृष्टि पर जो प्रभाव

होता है, उसको तो हम जान लेते है और विश्वास कर लेते है। परन्तु सूक्ष्म जगत् पर क्या प्रभाव होता है और कैसा होता है, यह हम नहीं जान पाते। इसलिये हमे विश्वास नहीं होता। भगवान् की तरफ से शब्द व ध्वनि का संसार पर जो प्रभाव, निर्माण व विनाश की क्रियाये हो रही है, वह तो हो ही रही है। परन्तु मनुष्य भी अपने शब्द मे इतनी शक्ति पैदा कर सकता है कि शब्दोच्चारण के अनन्तर ही स्थूल पदार्थ पर प्रभाव दृष्टिगोचर हो जाय। ऋषियो व महर्षियों की वाणी मे वह शक्ति होती थी कि जो वर व शाप के द्वारा स्थूल चक्षु को भी दृष्टिगोचर हो जाती थी। इस प्रकार सामान्य शब्द मे ही बड़ी भारी शक्ति है। परन्तु शब्द व ध्वनि के स्वर रूप मे तो और भी गहरी शक्ति है।

सामवेद का स्वर नित्य है

सामवेद का स्वर भी नित्य है क्योंकि वह भी स्वयं भगवान् ने ऋषियों को दिया है। अथर्व ११। ७।५ मे आता है कि "उच्छिष्टे स्वरः साम्नो०" अर्थात् साम का स्वर उच्छिष्ट रूप भगवान् मे

सन्निहित है। इससे यह स्पष्ट है कि साम मन्त्रों के साथ-साथ स्वर भी भगवान् से प्राप्त हुए हैं। अब विचारणीय यह है कि वह कौन सा स्वर है जो भगवान् से प्राप्त हुआ होगा। इस सम्बन्ध में हम इतनी कल्पना कर सकते हैं कि बीज रूप मे भगवान् ने स्वर दिया होगा परन्तु उसमें विविधता ऋषियों ने पैदा की होगी। जिस प्रकार परमात्मा की तरफ से प्रदत्त फलों को कल्मी बना लिया जाता है और इस तरह से उनके सैकड़ों विविध रूप हो जाते हैं इसी प्रकार भगवान् से प्राप्त स्वर को ग्रहण कर ऋषियों ने कुछ न कुछ फेरफार कर विविध गान प्रचलित किये होंगे। अब उस नित्य स्वर के निर्माण के लिये आवश्यकता इस बात की है कि उच्छिष्ट रूप भगवान् से ही हम पुनः स्वर को ग्रहण करें। प्रश्न यह हो सकता है कि वह साम व स्वर कहां है? और उनको कैसे ग्रहण करें। इस सम्बन्ध मे उदाहरण रूप में दो-एक बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि साम को भगवान् के लोम बताया गया है—

'सामानि यस्य लोमानि'

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में से चारों

ओर लोम निकल रहे हैं, उसी प्रकार भगवान् के शरीर में से भी साम (स्वर) लोम के समान चारों ओर निकल रहे हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं, कि साम सर्वत्र व्यापक है, केवल उनको ग्रहण करने की याचना पैदा करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है। वह यह कि साम व स्वर का सम्बन्ध द्युलोक में हमारे शास्त्रों में बताया गया है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में लोम सर्वत्र होते हुये भी शिर में प्रमुख रूप से होते हैं, उसी प्रकार उस परमपुरुष में साम सर्वत्र व्यापक होते हुये भी शिर स्थानीय द्युलोक में प्रमुख रूप से होते हैं। वेद में भी ऐसा ही वर्णन आता है। वहां आता है कि—

'गायत्साम नभन्यम्" ऋग् १।४३।१

अर्थात् गाया जाता हुआ साम द्युलोक के लिये श्रेष्ठ साधन है। और ऋ० ८।९८ सूक्त में इन्द्र के लिये सामगान का वर्णन आता है (इन्द्राय साम गायत)। यहां पर इन्द्र को प्रायः प्रत्येक मन्त्र के अन्त में "पतिर्दिवः" द्युलोक का पति कहा गया है।

इस सब का भाव यही है कि यह मन्त्र द्युलोक स्थानीय भगवान् के विशिष्ट रूप के लिये साम-गान का वर्णन करता है। इसी प्रकार एक मन्त्र और आता है जिसमे साम का सूर्य के साथ सम्बन्ध बताया गया है। वह इस प्रकार है—

"अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयत्"
ऋ० ८।२६।१०

अर्थात् कई अर्चना करते हुये महान् साम को अपने अन्दर उद्बुद्ध करते हैं। इससे वे अपने अन्दर सूर्य को प्रदीप्त करते हैं। इसलिये द्युलोक से चारों ओर बिखर रहे साम अर्थात् स्वर को हमें ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि उस स्वर को हम कैसे ग्रहण करें। इस सम्बन्ध मे एक कल्पना मन्त्र के आधार पर यह हो सकती है जैसा कि मन्त्र में कहा गया है—

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा०
अथर्व० १३।२।२

अर्थात् प्रज्ञाओं की दिशाओं को अपनी अर्चियों

के द्वारा वह सूर्य स्वरयुक्त करता है।

मनुष्य की अपनी २ प्रज्ञाओं अर्थात् बुद्धियों की जो दिशायें है, उनमें स्वर का ग्रहण किया जा सकता है। मनुष्य मे जो इन्द्रियां व बुद्धि आदि ज्ञान के साधन हं, इनकी दो दिशाये हो सकती हं। एक तो बाह्य दिशा और दूसरी अन्दर की दिशा। बाह्य दिशा की ओर जाने से तो ये इन्द्रियां आदि भोगों मे विचरती है। और अन्दर की दिशा की तरफ जाने से इन्हे असली ज्ञान प्राप्त होता है। स्वर ज्ञान भी अन्तर्मुख होने पर ही हो सकता है। अध्यात्म मार्ग मे जाते हुये यदि दूरस्थ घण्टा, वेणु, वीणा आदि का शब्द सुना जा सकता है तो सर्वत्र व्यापक साम के स्वर भी पकड़े जा सकते हं। केवल और भी सूक्ष्म बनने की आवश्यकता है। और ऐसे कई मन्त्र है जो यह निर्देश करते है कि आत्मा, परमात्मा तथा सब वेदादि शास्त्र हमारे अन्दर ही विद्यमान है। हमें अन्तर्मुख होकर मन की अन्तर्निहित प्रच्छन्न गुहाओं को टटोलना चाहिये। और यह देखने का प्रयत्न करना चाहिये कि मन के किस स्तर में या किस अन्तर्निगूढ गुफाओं मे ये वेद रथ की नाभि

में आरों की तरह जुड़े हुये हैं (यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः)।

इस प्रकार जब अन्तर्मुख होकर हमारी यह प्रबल इच्छा होगी कि हम साम के असली स्वरों को भगवान् से प्राप्त करें तो भगवान् अवश्य ही हमारी इच्छा को पूर्ण करेंगे। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवनों को परीक्षामय बनावें। हमारी वैदिक संस्कृति के जो अनन्त रत्न भी लग जाये तो कोई परवाह नहीं। अन्त में हमारी भगवान् से यह विनम्र प्रार्थना है कि वह हमे शक्ति दे, सामर्थ्य दे और सद्बुद्धि दे जिससे कि हम भगवान् के दिव्य प्रकाश को सर्वत्र फैला सके।

—०—

बृहत्-रथन्तर

बृहत् और रथन्तर ये दो वेद की रहस्यमयी गुह्य संज्ञा है। शास्त्रों मे इन्हें दैव्य मिथुन माना गया है। यथा 'दैव्यं मिथुनं प्रजननं यद् उभे बृहद् रथन्तरे।' जै० ब्रा० २।२०५ अर्थात् ये बृहत् और रथन्तर दिव्यता के प्रजनन में दैव्यमिथुन हैं। आधुनिक भाषा मे कहना चाहे तो यह कह सकते है कि ये दो विभाग है और दो अवस्थायें हैं। जो वस्तु इन दो विभागों में विभक्त होती है, और दो अवस्थाओं में गुजरती है, वे भी बृहत्–रथन्तर की कोटि में आ जाती है। सामवेद की दृष्टि से ये दो साम है जिनके ज्ञान द्वारा ये अवस्थायें पैदा की जाती है। वैदिक साहित्य में इन दोनों का वर्णन प्रायः एक साथ तथा सहचारी रूप मे आता है। इनके साहचर्य को कई रूपों में दिखाया जा सकता है। उदाहरणार्थ कुछ इस प्रकार है—

१. एक दूसरे के पूरक
२. एक वस्तु के दो पार्श्व (पक्ष)

३. किसी घटना व कार्य के पूर्वोत्तर भाग।
४. कारण व कार्य इत्यादि .

बृहत्-रथन्तर में पौर्वापर्य

बृहत् और रथन्तर मे किसी भी प्रकार का साह-चर्य होते हुये सबमे एकबात सामान्य है और वह यह है कि उन मे पौर्वापर्य है और इनका प्रवाह बृहत् से रथन्तर की ओर है। अथर्ववेद मे रोहित का वर्णन करते हुये इन के पौर्वापर्य और प्रवाह को इस प्रकार दिखाया है।

बृहदेनमनुवस्ते पुरस्तात् रथन्तरं
प्रति गृह्णाति पश्चात् ।।

अथर्व. १३।३।११

रोहित को सबसे पहले बृहत् धारण करता है पीछे रथन्तर। रोहित नाम रोहण शक्ति का है और बृहत् रथन्तर द्युलोक व पृथिवी-लोक हैं। द्युलोक बृहत् है और पृथ्वी लोक रथन्तर है। (श. प. ६।१।२।३७) इस आधार पर अथर्व वेद के रोहित सूक्त के उपर्युक्त मन्त्र का भाव यह हुआ कि इस सौरमण्डल मे सर्वप्रथम

उत्पत्ति द्युलोक मे होती है और बाद मे पृथिवी में। और यह उत्पत्ति प्रक्रिया द्युलोक से पृथिवी लोक की ओर प्रवाहित होती है।

सृष्टि का सर्जन करने के लिये भगवान् ने रोहित का तथा प्रकृति ने रोहिणी का रूप धारण किया, और अपने स्वामी रोहित के अनुकूल व्रत वाली होकर यह रोहिणी प्रकृति सृष्टि का सर्जन करने लगी। मन्त्र मे कहा है–'अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य।' अथर्व. १३।१।२२।

दो पार्श्व व दो पंख

बृहत् और रथन्तर एक वस्तु के दो पार्श्व है अथवा एक पक्षी के दो पंख है। देवताओं ने जब रोहित की उत्पत्ति की तो एक पार्श्व व पक्ष बृहत् था और दूसरा रथन्तर। मन्त्र में आता है—

बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथन्तरमन्यतः
सबले सध्रीची। अथर्व. १३।३।१२

अर्थात् रोहित की उत्पत्ति मे एक पक्ष बृहत् तथा दूसरा रथन्तर था। ये दोनों समान बलवाले व साथ मिलकर चलने वाले है।

इसी प्रकार जिस क्षेत्र मे जिस दृष्टि से जिनके लिये बृहत् और रथन्तर का प्रयोग हुआ है, वहां पौर्वापर्य क्रम, पार्श्वद्वय और पक्षद्वय मे से कोई भाव अवश्य होना चाहिये। उदाहरण के रूप मे वाणी को ले तो स्वर व ध्वनि की दृष्टि से प्राण बृहत् है और वाक् रथन्तर है। विषय की दृष्टि से देखे तो मन बृहत् है और वाक् रथन्तर है, क्योंकि मन जो सोचता है वही वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है। 'बृहच्च रथन्तरञ्चानूच्ये आस्ताम्' अथर्व. १५।३।५ इस मन्त्र मे भी यही उपर्युक्त भाव दृष्टि में रखने है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र मे पौर्वापर्य क्रम व पक्षद्वय आदि रूप मे बृहत् और रथन्तर का निर्णय किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में बृहत् और रथन्तर के कुछ रूपों और क्षेत्रो को हम यहां तालिका मे दिखाते है। वैदिक साहित्य मे इनका प्रयोग हुआ है—

बृहद्	रथन्तर
१ मन	१ वाक्
२ प्राण	२ वाक्

३	प्राण	३	अपान
४	उत्तरपक्ष	४	दक्षिण पक्ष (अथर्व. १३।३।१२)
५	द्युलोक	५	पृथिवीलोक
६	आदित्य	६	अग्नि
७	साम	७	ऋक्
८	क्षत्र	८	ब्रह्म
९	रोह	९	स्तोभ
१०	अनन्त	१०	अन्तवान्
११	अर्वाची (देवहूतिः)	११	ऊर्ध्वा (देवहूतिः)
१२	हस	१२	अस
१३	बर्हिर्निधन	१३	अन्तर्निधन
१४	विराट्	१४	सम्राट्
१५	भरद्वाज	१५	वसिष्ठ
१६	ग्रीष्मऋतु	१६	वसन्तऋतु
१७	ऐरम्	१७	ऐडम्

इस प्रकार उदाहरण के तौर पर बृहत् और रथन्तर के कुछ रूप हमने ऊपर प्रदर्शित किये हैं। इन में और भी कई रूपों का परिगणन हो सकता है।

अब हम उदाहरणार्थ कुछ क्षेत्रों मे बृहत् और रथन्तर के प्रयोग पर विस्तार से विचार करते है।

मन और वाक्

मन और वाक् इन दोनों में मन बृहत्1 है और वाक् रथन्तर है। जो विचार मन मे पैदा होते है वे वाणी द्वारा प्रकट किये जाते है। इस प्रकार मन और वाणी में पौर्वापर्य2 क्रम विद्यमान है। एक स्थल पर3 बृहत् को अनन्त कहा गया है और

१–मनो वै बृहद् वाग् रथन्तरम्। ता. ब्रा. ७।६।७ जै ब्रा. १।१२८ वाग् वै रथन्तरं मनो बृहत्। ऐ.ब्रा. ४।२७

२–मनस्तपूर्व वाचो युज्यते मनो हि पूर्व वाचो यद्धि मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति। ता. ब्रा. ११।१।३

३–यो वै बृहद् रथन्तरयोरन्तवच्चानन्तं च वेदान्तं हि श्रियै परिगृह्णाति अनन्तं स्वर्गं लोकं जयति।
जै. ब्रा १।२९३

रथन्तर को सान्त। मन अनन्त है, अक्षय भण्डार है, पर वाणी सीमित और सान्त है।

बृहत्

ताण्डय महाब्राह्मण मे आता हे कि 'प्रजापति[1] ने कामना की कि मै बहुत हो जाऊं अर्थात् प्रजनन करूं।' यह सोचकर उसने चुपचाप मन से ध्यान किया। इस प्रकार ध्यान करने से उसके मन मे जो कुछ था उसने बृहत् का रूप धारण कर लिया। 'प्रजापतिने[2] जब बृहत् और रथन्तर का सर्जन किया तब उसने मन को ही बृहत् रूप मे देखा और वाक् को रथन्तर नाम से पुकारा।'

मनुष्य जब बाह्य संसार से सम्पर्क हटाकर

---

१ प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तूष्णीं मनसा ध्यायत् तस्य यन्मनस्यासीत् तद् बृहत् समभवत्॥ ता ब्रा ७।६।१

२. प्रजापतिर्यद् बृहद् रथन्तरे असृजत स मन एवाग्रे बृहत् अपश्यत् वाचं रथन्तरमभिव्याहरत्॥ जै. ब्रा. १।२।२८

अन्तर्मुखी अवस्था में मन मे स्थित होता है अथवा किसी एक विषय का चिन्तन करता है तो उस विषय के पक्ष विपक्ष मे अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठते है और विचारों का एक विशाल रूप पैदा हो जाता है। व्यक्ति जितना भी ज्ञानी और प्रतिभा-सम्पन्न होगा, उतना ही अधिक विचार जगत् व्यापक होगा। पारोवर्यवित् वेत्ताओं में तो यह मानसिक जगत् सीमातीत और व्यापक रूप धारण कर लेता है। 'भगवान्[1] में भी जब सृष्टि-निर्माण की कामना हुई तो मनस्तत्व के रेतस् और बीजरूप में यह उत्पन्न हुई।' कालान्तर में यह सृष्टि की अनन्तविधता मे परिणत हो व्यापक हो गई। यह भगवान् की मानस सृष्टि है। इस प्रकार मनोगत भाव और विचार जब महान् रूप को धारण कर लेते है तब वेद के शब्दों मे मन को बृहत् कहा जाता है। मन को बृहत् कह दो या मनोगत भावों को बृहत् कह दो बात एक ही है। शास्त्रों में दोनों के

---

१. कामस्तदग्रे समभवद् मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

लिये बृहत् कहा गया है ।

वास्तव में बृहत्,सामान्य जनोंके मनों का वाचक नहीं है । यह दैव्य मिथुन मे एक है । वेद के शब्दों में बृहत् एक महान् अक्षय भंडार है जिससे कि प्रत्येक प्राणी के अपने-अपने मन बने है । आथर्वणी[1] ऋचा मे जहां मनुष्य के प्राण तथा चक्षु आदि इंद्रियों के आदि स्रोतो का परिगणन किया है वहां मन का आदि स्रोत बृहत् को बताया गया है । इसलिये बृहत् साधारण मन नहीं है । धात्वर्थ के आधार पर यह प्रवृद्ध मन (वृहि वृद्धौ) है। बृहत् मन की सीमा विशाल व व्यापक है । जैमिनीय ब्राह्मण के आधार पर यह दैव्य मन है । कोई भी बात मन में आते ही अंकुरित और पुष्पित व पल्लवित होनी शुरू हो जाती है और शनैः शनैः प्रवृद्ध होकर महान् रूप को धारण कर लेती है ।

---

१. बृहता मन उपह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ । सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् । सरस्वत्या वाचमुपह्वयामहे मनोयुजा ॥
अथर्व. ५।१० ८

अतः मन का बृहत् नाम सार्थक है । बृहत् मन के दो गुण हैं एक वह आदि रूप है अर्थात् मानव चेतना का आदि और प्रारम्भ है, भावों और विचारों की शुरूआत है । दूसरा ऊर्ध्व की ओर गति करना है । अतः ता.ब्रा. ८।६।११ मे कहा है 'आदि बृंहतः ऊर्ध्वमिव हि बृहत्' इससे यह स्पष्ट है कि सामान्य जन के मन का यहां ग्रहण नहीं करना है क्योकि सामान्य मन की गति ऊर्ध्व को न होकर नीचे की ओर होती है ।

मन से वाक् की ओर

ताण्डय महाब्राह्मण मे कहा है कि—

स आदीधीत गर्भो वै मेऽयमन्तर्हितस्तं
वाचा प्रजनया इति ॥ ता.ब्रा.७।६।२

मन रूप प्रजापति ने यह सोचा कि यह गर्भ मेरे अन्तर निहित है । इसे मै वाणी द्वारा प्रजनन करूं अर्थात् जो विचार मन में निहित है उन्हें वाणी द्वारा प्रकट करूं ।

स वाचं व्यसृजत सा वाग् रथन्तरमन्वपद्यत ॥
ता.ब्रा.७।६।३

उसने वाणी का सर्जन किया और वह वाणी रथन्तर का रूप धारण कर गई।

अब विचारणीय यह है कि रथन्तर क्या है? अतः रथन्तर पर भी हम विस्तार से विचार करते हैं।

रथन्तर

वैदिक साहित्य मे रथन्तर -शब्द भी एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। बृहत् की तरह यह भी एक प्रकार का सामगान है। रथन्तर के स्वरूप को ब्राह्मणादि ग्रन्थों में विशद रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। जैमिनीय ब्राह्मण मे आता है कि देवता[1] रथन्तर के द्वारा स्तुति कर और रथन्तर पर समारूढ़ हो स्वर्गलोक में

---

१. ते देवा रथन्तरेणैव स्तुत्वा रथन्तरं समारुह्य स्वर्ग लोकमगच्छन् तेऽब्रुवन्नतारिष्म वा इमान् रथानिति। तदेव रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्। तरति द्विषन्तं भ्रातृव्यं य एवं वेद॥

जै ब्रा १।१३५

चले गये। वे बोले कि अब इन रथों को उतार देवे: रथों को उतार देना ही रथन्तर का रथन्तरपना है। जो इस तत्व को जानता है वह शत्रु को तर जाता है।'

इस प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण के आधार पर रथन्तर की व्युत्पत्ति और उसका रहस्य रथ के उतार देने में है। अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों से भी रथन्तर का यही भाव प्रतीत होता है। अब विचारणीय यह है कि रथ क्या है? और उसके उतारने का क्या भाव है?

रथ

इस सम्बन्ध मे जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'हमारे[1] में जो अशनया है वही रथ है। इस अशनया रूपी रथ को उतारने वाला रथन्तर है।

---

१. अशनया ह वै रथा अन्नमु वै रथन्तरम्। अन्नेनाशनयां घ्नन्ति। तां तामशनयामन्नेन हत्वा स्वर्गं लोकमारोहन्॥ जै. ब्रा. १।१३६

अशनया भूख को कहते हैं। यह भूख ही रथ है। यह भूख सभी इंद्रियो की हो सकती है क्योंकि मनुष्य सब इन्द्रियों से तत्तदनुकूल अन्न खाता है। इसलिये कोई भी मानसिक और ऐन्द्रियिक भूख अशनया कही जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा मे इस अशनया को (विश, विल, डिजायर, एपिटायट) इत्यादि नामो से सम्बोधित किया जा सकता है। ये सब नाम इस अशनया पद में समाविष्ट हो जाते है। ब्राह्मण ग्रन्थ मे इस अशनया को रथ इसलिये कहा है कि यह अशनया मनुष्य को इधर से उधर भगाये फिरती है। रथ का काम भी यही है। इसलिये आलंकारिक भाषा मे इस अशनया को रथ कह दिया गया है। इस अशनया को अपने ऊपर से उतार देने और शान्त करने के लिये जो भी साधन हो सकते है वे सब रथन्तर की कोटि में आ जायेगे। इस दृष्टि से सब प्रकार की मानसिक कामनायें, वासनाये आदि वेद की भाषा मे रथ है। इन्हें अपने ऊपर से उतारने का एक साधन वाणी भी है। प्रश्न यह है कि क्या सामगान मे ऐसी शक्ति है कि जिससे सर्व प्रकार की अशनया शान्त हो जाये ?

वैदिक साधनो पर श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों को परीक्षा करके यह सिद्ध करना चाहिये।

जैमिनीय ब्राह्मण मे रथन्तर को सान्त बताया है और बृहत् को अनन्त अर्थात् अशनया रूपी रथों के उतारने के साधन संसार मे स्वल्प हैं। पर बृहत् रूपी अक्षय भंडार अनन्त है। मन के अन्दर जो भी विचार और इच्छाये है उन्हें उतारने वाले साधन रथन्तर कहलाते है। वे कई प्रकार के हो सकते हैं। यह आवश्यक नही सभी रथन्तर नामक साधन सबके अनुकूल हों। यह सब व्यक्ति व्यक्ति पर निर्भर करता है। अब प्रश्न यह है कि इस अशनया रूपी रथ को उतारने और अर्थात् भूख के शान्त करने का साधन क्या है? इस सम्बन्ध मे जैमिनीय ब्राह्मण के उद्धरण मे हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं कि अशनया को शान्त करने वाला अन्न है (अन्नेनाशनयां घ्नन्ति) परन्तु फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या कामना पूर्ति (विशफुलफिलमेंट) से कामनाये शान्त हो सकती है। यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। प्राचीन और अर्वाचीन युगो के विद्वान् इस समस्या को हल करने का सदा

प्रयत्न करते रहे है ।

योरोपियन विद्वान् मनोविज्ञान के आधार पर मन के स्वस्थ रहने के लिये कामनाओं की पूर्ति होना आवश्यक मानते हं । क्योंकि कामनाओं के दबाने (रिप्रेशन, सप्रेशन) से वे गुफाओ में पड़ी हुई नाना विकारों और बिमारियों की जननी बनती है । इसलिये कामनाये दबकर विकृति और बिमारी पैदा न कर सके इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय उनकी दृष्टि मे कामनाओ की पूर्ति है । जो इच्छाये मनुष्य की जागृत अवस्था मे पूरी नहीं होतीं या किसी कारण नही हो सकतीं वह स्वप्न मे पूरी होती हैं । इस लिये स्वप्न भी मनुष्य के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये आवश्यक है । ये विचारधारायें मनोविश्लेषणकर्ता विद्वान् फ्रायड तथा अन्य विद्वानों की है । कामनाओं की पूर्ति (विशफुलफिलमेंट) कहां तक ठीक है और कहां तक नहीं इत्यादि समस्याओ पर विस्तृत विचार तो यहां हो नहीं सकता । पर संक्षेप मे यह कहना पर्याप्त है कि मनुष्य का अन्तःशरीर उस हौज के समान है जिसमे पानी भरने के रास्ते तो अनेक है पर निकलने के

कम है। ऐसे हौज मे पानी सदा भरा रहेगा वह कभी खाली न होगा। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर है। इसमे काम, क्रोध आदि का वेग निरन्तर उठता है पर इनकी पूर्ति के साधन अत्यल्प है। इस अवस्था मे जागृत और स्वप्नावस्था मे कामना पूर्ति के साधन अत्यल्प होने से वे मनुष्य के नीरोग होने का पूर्ण साधन नहीं है।

इसके विपरीत भारतीय विचार परम्परा मे यही भाव सदा प्रमुख रहा है कि 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' काम के उपभोग से काम का कभी भी शमन नहीं होता। 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' अग्नि में घृत की आहुति के समान वह कामोपभोग बढ़ता ही है। तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि 'अन्नेनाशनयां घ्नन्ति' इस ब्राह्मण वाक्य का क्या अर्थ होगा? इसका एक भाव तो यह प्रतीत होता है कि जो कामनायें संचित होकर उग्र रूप धारण कर चुकी है, विकार व बिमारी को उत्पन्न करने वाली है, उनके शमन के लिये यह एक उपाय अवश्य है पर कामजनित विकारों से छुटकारे का वह अन्तिम और

एकान्त उपाय नही है । हां, मानसिक चिकित्सा मे एक प्रारंभिक उपाय है । और यह भी सब के लिये उपयुक्त नही है । इस वाक्य का दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि जिस इंद्रिय को जो अन्न अत्यधिक मात्रा में दिया जायेगा तो कालान्तर मे वह अन्न उस इंद्रिय मे आनन्द पैदा करने वाला नहीं रहेगा। जब मात्रा से अधिक मीठा (मिष्ठान्न) खाया जायेगा और निरन्तर खाया जायेगा तो मीठे से मन उकता जायेगा और मीठा खाने की अशनया जाती रहेगी । इसी को शतपथ ब्राह्मण में और रूप में दर्शाया है । और वह यह कि रथन्तर 'रसन्तमं'१ है । अतिशय रस का होना रथन्तर है । वहां कुछ इस रूप मे वर्णित हुआ कि 'यह पृथिवी सब रसों का आगार होने के कारण 'रसन्तमं' नाम वाली है । यह 'रसन्तमं' ही रथन्तर हो गया है ।

१—इयमु वा एषां लोकानां रसतमोऽस्यां हीमे सर्वे रसाः । रसन्तमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामाः हि देवाः ॥

श. प ९।१।२।३६

कहने का भाव यह है कि यह अन्न रथन्तर है अर्थात् अशनया रूपी रथ को उतार फेंकता है। ताण्ड्य महा ब्राह्मण मे रथन्तर की एक और व्युत्पत्ति की है वह इस प्रकार है—

रथम्मर्या क्षेप्णातारीदिति तद् रथन्तरस्य रथन्तरत्वम् ॥ ता. ब्रा. ६।७।४

हे मनुष्यो! रथ को अपने ऊपर से उतार फेंको।

कामना, चिन्ता, शोक आदि ये सब रथ हैं। इन्हें ऐसा समझे कि ये हमारे अंग नहीं हैं। ये बाहर से हम पर आक्रमण करते हें। इन्हें वाणी आदि साधनो से परे फेंकने का प्रयत्न करते रहो। परे फेंकने के भाव से सदा भावित रहो। यह भी अशनया आदि को परे फेंकने का उपाय है और सर्वोत्तम उपाय है। अतः रथन्तर की साधना के लिये निष्काम, अकाम, आत्मकाम आदि अवस्था लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

प्राण और वाक्

जिस प्रकार मन और वाक् मे पौर्वापर्य सम्बन्ध

है, उसी प्रकार प्राण और वाक् मे भी है । प्राण बृहत् रूप है और वाक् रथन्तर । वाक् से पूर्व प्राण-वायु का होना नितान्त आवश्यक है । वैखरी वाक् मे अन्तःस्थित मातरिश्वा प्राण-वायु ही मुखस्थ ध्वनि-यन्त्रों से टकराकर स्वर का कारण बनती है । इस प्रकार प्राण और वाक् का परस्पर सम्बन्ध है । सूक्ष्म वाक् के उद्बोधन व प्रकटीकरण मे भी यह सर्वक्रियाओ का आदिमूल शरीराभ्यन्तरचारी प्राणवायु ही है । ऐ.ब्रा. मे आता है कि 'वाग् वै रथन्तरस्य रूपं प्राणो बृहतः उभाभ्याम् खलु संहिता सधीयते वाचा च प्राणेन च' अर्थात् वाक् रथन्तर का रूप है और प्राण बृहत् का । इन दोनों प्राण और वाक् मे परस्पर संधि है । इन दोनो की इस संधि मे मे पूर्वापर भाव स्पष्ट ही है ।

प्राण और अपान का बृहत् और रथन्तर रूप

प्राणि शरीर मे प्राण का प्रमुख स्थान शिर आदि शरीर का ऊर्ध्व भाग है । और अपान का स्थान उदर गुदा व मूलाशय आदि अधोभाग है । यहां यह स्मरणीय है कि शरीर की सब वायुओं को प्राण

और अपान इन दो भागों मे विभक्त किया है। प्राण का बृहत् रूप उस समय होता है जब कि प्राण बृद्धिगत होता है। शरीर का मस्तिष्क और तद्गत सूक्ष्म शक्तियां प्रवृद्ध होती है। और अपान का रथन्तर रूप उस समय होता है जब कि यह शरीर के उदर आदि अंगों से रथो को उतार फेकता है। अपान द्वारा रथो को उतारने के दो क्षेत्र है। एक तो मल आदि विजातीय तत्वो को शरीर से बाहिर करना और दूसरे भोग सम्बन्धी कामनाओ को त्याग देना, परे फेक देना। एक का स्थूल शरीर से सम्बन्ध है और दूसरे का मानसिक जगत् से। षड् रसों से युक्त नानाप्रकार के व्यंजनो के आस्वादन की लालसाये तथा भोग-सम्बन्धी उत्कट इच्छाये मनुष्य को भगाये फिरती हैं, ये रथ है। मनुष्य रात-दिन इन्हीं की चिन्ताओ मे भागा-भागा फिरता है। परन्तु साधना के द्वारा जब अपान मे वह शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है कि मनुष्य इन इच्छाओं और लालसाओ को बाहिर धकेलता है। विषय भोग मे वह आनन्द नहीं आता तब यह अपान रथन्तर कहलाता है। अर्थात् इस अपान मे अशनया रूपी

रथ को अपने ऊपर से उतार फेंका है। प्राण और अपान के इन दोनों गुणों को ताण्ड्य महा ब्राह्मण में इस प्रकार प्रदर्शित किया है;—

तयोः समानं निधनमासीत् तस्मिन्नातिष्ठेतां त आजिमेतां तयोर्हसिति बृहत् प्राणमुदजयत् असिति रथन्तरमपानमभि समवेष्टत ॥

ता. ब्रा. ७।६।११

अर्थात् प्राण और अपान की प्रतिष्ठा और स्थिति-स्थान निधन- (प्रतिष्ठा वै निधनम् कौ० ब्रा. २७।६,२९।३) एक ही था। इस स्थान पर किसका अधिकार हो इस सम्बन्ध में उनमें होड चली। बृहत् ने 'हस' नामक प्राण को जीत लिया और रथन्तर ने 'अस्' नामक अपान को ले लिया।

इसका संक्षिप्त भाव यह है कि पिण्ड अर्थात् शरीर मे प्राण और अपान इन दोनों का स्थान है इस शरीर पर एकाधिपत्य के लिये इन दोनों मे संघर्ष हुआ। बृहत् ने 'हस' क्रिया द्वारा प्राण के क्षेत्र को जीत लिया। 'हस' का तात्पर्य हसनम् विकास आदि से है। अर्थात् ब्रह्माण्ड और

पिण्ड में जहां-जहां भी हंसना, खिलना, विकास और प्रफुल्लता आदि दृष्टिगोचर होती है, वहां यह समझना चाहिये कि यह बृहत् रूप प्राण का काम है। दूसरी ओर रथन्तर ने 'अस' द्वारा अपान को घेर लिया। 'अस' धातु प्रक्षेपण अर्थ में आती है। यह गुण अपान का है। अपान का सामान्य गुण मल आदि को परे फेंकना और बाहिर निकलना तो है ही। परन्तु रथन्तर के क्षेत्र मे आने पर अशनया रूपी रथ को परे फेंकने में इसकी वास्तविक चरितार्थता है। मस्तिष्क शक्तियां विकसित होती जाये और भोग प्रधान अवयवों की सब कामनाये शान्त होती जाये तो इस अवस्था में प्राण और अपान बृहत् और रथन्तर कहलाते हैं। मनुष्य दिव्य बन जाता है।

हमे यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि बृहत् और रथन्तर की कार्यप्रणाली एक सी है। बृहत् बाहिर की ओर गति करता है और समग्र ब्रह्माण्ड और समग्र पिण्ड मे व्याप्त होता है। प्राण की प्रतिष्ठा, स्थिति-स्थान व आदि-स्रोत भी बाह्य वायुमंडल है। जब यह विकसित होता है तब अपने

आदि स्रोत से शक्ति लेने के लिये बाहिर की ओर प्रयाण करता है। दूसरी ओर रथन्तर का क्षेत्र अपान है। और अपान अन्तर्निधन है। अर्थात् इसकी शरीर के अधोभाग में प्रतिष्ठा है। परन्तु प्रक्षेपण गुण के कारण यह भी अशनया रूपी रथ को बाहिर की ओर फेंकता है। इस प्रकार दोनों की शक्ति और क्रिया बाहिर की ओर की है। यही भाव ब्राह्मण ग्रन्थ मे इन शब्दों में प्रकट किया है।

> यन्विवत्याहुरुभे बृहद्रथन्तरे बर्हिणिधने कस्मात् बृहत् बर्हिनिधनानि भजतेऽन्तर्णिधनानि रथन्तरमिति। प्राणो बृहत् तस्माद् बर्हिणिधनानि भजते बर्हिहि प्राणोऽपानो रथन्तरं तस्मादन्तर्णिधनानि भजतेऽन्त ह्यपानः॥

ता. ब्रा. ७।६।१३, १४।

जो यह कहते है कि बृहत् और रथन्तर दोनों बर्हिनिधन है तो फिर बृहत् बर्हिनिधन को क्यों भजता है और रथन्तर अन्तर्निधन को? इसके उत्तर मे कहा कि प्राण बृहत् है यह बर्हिनिधन है

क्योंकि प्राण का स्थान बाहिर है । अपान रथन्तर है यह अन्तर्निधन है क्योकि अपान का स्थान अन्दर शरीर मे है । अतः सब आनन्द अपान में है । हमें यह प्रयत्न करना चाहिये कि इसे बाहिर तो फेकें पर विषयो मे आनन्द न लेवें ।

प्राणापान को बृहत् रथन्तर बनाकर चिर-रोगी को स्वस्थ करना

शास्त्रो मे प्राण और अपान को बृहत् रथन्तर बनाकर चिर रोगी को स्वस्थ बनाने का विधान किया है जैसा कहा है--

प्राणापानौवै बृहद् रथन्तरे ज्योगामयाविन उभे कुर्यादपक्रान्तौ वा एतस्य प्राणापानौ यस्य ज्योगामयति प्राणापानावेवास्मिन् दधाति ।।

ता.ब्रा.७।६।१२

जो चिरकाल से बीमार चला आ रहा हो उसके प्राण और अपान को बृहद् और रथन्तर का रूप देवे । क्योंकि चिररोगी के प्राण और अपान एक प्रकार से विनष्ट हो गये होते हं । इस प्रकार

चिररोगी के प्राण और अपान मे बृहत् और रथन्तर की शक्ति समाविष्ट करने से उसके प्राण और अपान फिर सुचारू रूप से कार्य करने लगते है।

द्युलोक और पृथ्वीलोक

द्युलोक और पृथिवीलोक भी बृहत् और रथ-न्तर कहलाते है।

बृहच्छन्द इत्यसौ वै लोको बृहच्छन्दो
रथन्तरं छन्द इत्ययं वै लोको रथन्तर छन्दः।

श.प.८।५।२।५

असौ वै लोको बृहदयं रथन्तरम्॥

ता.ब्रा.७।६।१७

इसी प्रकार और भी कई स्थानों पर बृहत् और रथन्तर को इन दोनों लोकों का वाचक बताया है। अब प्रश्न यह है कि इन्हे बृहत् और रथन्तर क्यों कहते है ? इस सम्बन्ध में संक्षेप मे हम यह कह सकते है कि बृहत् और रथन्तर ये दोनों द्यावा-पृथिवी की अवस्था-विशेष के द्योतक है। द्यावा पृथिवी का परस्पर जो सम्बन्ध है वह इस प्रकार का है कि पृथ्वी द्युलोक से अन्न ग्रहण करती है।

पृथ्वी मे जब अशनया पैदा होती है तब द्युलोक उसे अन्न प्रदान करता है। यह अशनया ही रथ है। अलंकारिक भाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि इस अशनया की शांति के लिये यह पृथ्वी अन्न की अभिलाषा मे सूर्य के चारों ओर निरन्तर चक्कर लगा रही है। और जब पृथ्वी को द्युलोक से अन्न मिल जाता है तब उसकी वह अशनया शान्त व समाप्त हो जाती है। इस लिये अन्न रथन्तर है। पृथ्वी को यह अन्न द्युलोक से वर्षा रूप मे मिलता है जो कि ओषधि और वनस्पति रूप मे परिणत हो जाता है। द्युलोक मे यह सूर्य अन्न का अनन्त अपरिमेय अक्षय भंडार है। यह सूर्य पृथ्वी से जो रस खींचता है तो उसे हजारों गुणा बढ़ाकर बरसाता है। (सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः) इस लिये द्युलोक बृहत् है और पृथ्वी रथन्तर है।

ऊर्ध्वा वै रथन्तरस्य देवहूतिरर्वाची बृहतः ॥

जै. ब्रा. १।२६६

पृथ्वी की देवहूति ऊर्ध्व को द्युलोक की ओर है, इसके उत्तर मे द्युलोक की देवहूति अर्वाङ् अर्थात् नीचे की ओर है। पृथ्वी की अशनया की

व्याख्या हम इस प्रकार भी कर सकते है कि जिस प्रकार की अशनया होती है और जिस समय होती है उस समय वह अन्न न बोने पर वह अन्न फिर नहीं पैदा होता है। जिस समय अशनया पैदा हो उसी समय अन्न मिलना चाहिये। नहीं तो वह भूख मर जाती है। इसलिये पृथ्वी में जिस समय जिस प्रकार की अशनया पैदा होती है वैसी ही प्राणशक्ति द्युलोक से पृथ्वी की ओर आती है। उस समय तदनुकूल अन्न बोने से ही सफलता मिलती है। जिस समय अन्न पैदा हो जाता है तो तत्सम्बन्धी अशनया शांत हो जाती है। इस प्रकार द्यावापृथिवी के बृहत् और रथन्तर रूप को हमें समझना चाहिये। इसी प्रकार पृथ्वी के अधिपति अग्नि को रथन्तर माना है और आदित्य को बृहत्।

बृहत् और रथन्तर से अन्य सामों की उत्पत्ति

जब मनुष्य के मन और वाणी बृहत् और रथन्तर का रूप धारण कर लेते है तब इन में किस प्रकार विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सामों की उत्पत्ति द्वारा ब्राह्मण

ग्रन्थों में अलग और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। ऐ.ब्रा. ४।२८ में एक साम से दूसरे साम की उत्पत्ति का एक प्रकरण आता है उसका संक्षिप्त भाव यह है कि उत्पत्ति मिथुन से होती है। इसमें एक पुरुष होना चाहिये और दूसरी स्त्री। बृहत् और रथन्तर ये दो साम हैं। इनसे आगे अन्य सामों की उत्पत्ति होती है। ये दोनो मिथुन भाव को प्राप्त होते हैं। अब प्रश्न यह है कि इनमे कौन पुरुष बने और कौन स्त्री ? इसका निर्णय ब्राह्मण ग्रन्थ में 'अत्यमन्यत' पद से किया है अर्थात् जो अपने को दूसरे से अधिक या अतिशय शक्ति वाला मानता है वह पुरुष हो जाता है और दूसरी स्त्री। अब यहां बृहत् पुरुष बनता है क्योकि वह प्रजापति को ज्येष्ठ सन्तान है और रथन्तर स्त्री बनती है। मन मे सर्व-प्रथम विचार पैदा होते है वे ही वाणी द्वारा प्रकट होते हैं। इस प्रकार मन वाक् से पूर्वभावी है अतः ज्येष्ठ है। अब हम ब्राह्मण ग्रन्थ का वह प्रकरण प्रस्तुत करते हैं।

बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं चास्तां वाक् च वै तन्मनश्चास्तां वाग् वै रथन्तरं मनो बृहत्

तद् बृहत् पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत
तद् रथन्तरं गर्भमधत्त तद् वैरूपमसृजन ।।

सबसे पूर्व बृहत् और रथन्तर ये दो थे। बृहत् मन है और रथन्तर वाक् है। बृहत् अर्थात् मन की उत्पत्ति वाक् से पहले होती है अतः बृहत् ने अपने आप को रथन्तर (वाक्) से अतिशय शक्ति वाला माना। इस आधार पर बृहत् पुरुष बना और रथन्तर स्त्री। रथन्तर ने गर्भधारण कर वैरूप नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

इस उपर्युक्त कथन का क्या भाव है इसे स्पष्ट तौर पर समझ लेने पर अन्य सामों का स्वरूप और उनकी उत्पत्ति को समझना सरल होगा। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि बृहत् और रथन्तर अर्थात् मन और वाक् के मिथुन से वैरूप की उत्पत्ति होती है। और वह उत्पत्ति वाणी में होती है। वैरूप विविध रूपों को कहते हैं अतः इससे यह परिणाम निकला कि ये विविध रूप वाक् के विभिन्न रूप हैं। वाक् में वैरूप से अक्षरों का वैविध्य, शब्दों का वैविध्य और ज्ञान का वैविध्य इन सभी का ग्रहण किया जा सकता है। प्रारम्भ में वाक् ध्वनि तो

एक रूप वाली होती है जब इसके साथ मन (इन्द्र) का मिथुन भाव होता है तो अ, क, ख, ग, इत्यादि विविध वर्णों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार मन और वाक् के संयोग से वाक् मे यह वैरूपता आ जाती है। यह वैरूप वाक् रथन्तर का ही स्वरूप है। वाक् के सम्बन्ध मे हमने वैदिक वाक् पर विस्तार से विचार किया है। अब यदि हम मन्त्रों को बृहत् और रथन्तर की कोटि मे रखना चाहे तो इनकी पहचान ब्राह्मण ग्रन्थो मे इस प्रकार बतायी है। उदाहरण के रूप मे हम एक मंत्र को दिखाते है।

मित्रं हुवे पूतदक्षमिति राथन्तरं मैत्रावरुणम् ॥
ता. ब्रा. १२।२।३

अर्थात् यह मित्र वरुण देवता वाला मंत्र रथन्तर मन्त्र है क्योंकि 'हुवे इति वै राथन्तरं रूपम्' ता. ब्रा. १२।२।४ अर्थात् 'हुवे' आह्वान करना रथन्तर का रूप है। आह्वान वाणी से होता है और वाणी रथन्तर का रूप है। इस लिये यह मत्र रथन्तर की कोटि मे आयेगा। रथन्तर और वैरूप मे कोई विशेष भेद नहीं है। यह बात ब्राह्मण मे स्वीकार की गई है।

रथन्तरमेतत् परोक्षं यद् वैरूपं राथन्तरमेव
तद् रूपं निर्द्योतयति । ता. ब्रा. १२।२।५

अर्थात् यह वैरूप परोक्ष रूप में रथन्तर ही है। क्योंकि यह रथन्तर के रूप को ही अधिक स्पष्ट करता है। रथन्तर के ही विविध रूप वैरूप हैं यह इससे स्पष्ट है।

सब मनोभावों को वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है। अतः इस दृष्टि से वाणी का वैविध्य अर्थात् वैरूप रथन्तर का ही प्रकाशित रूप है।

वैराज साम की उत्पत्ति

ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च बृहदत्यमन्येतां
तद् बृहद् गर्भमधत्त तद् वैराजमसृजत ।

अर्थात् रथन्तर और वैरूप इन दोनों ने मिलकर अपने आपको बृहत् से अधिक समझा। इस कारण ये पुरुष हो गये और बृहत् स्त्री। बृहत् ने गर्भ धारण किया और वैराज नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

अब विचारणीय यह है कि वैराज क्या है? वैराज बृहत् से उत्पन्न हुआ है अतः यह कोई मानसिक रूप है ऐसा समझना चाहिये। वैराज को स्पष्ट

करते हुये आगे कहा--

बृहदेतत् परोक्षं यद्वैराजं बार्हतमेव तद् रूपं निर्द्योतयति। ता.ब्रा.१२।८।४

यह वैराज परोक्ष रूप मे बृहत् ही है। क्योकि बृहत् सम्बन्धी मनोभावो को यह और विकसित करता है।

आगे कहा कि---

वैराजा विष्टम्भाः समीचीर्विराजो दधात्य- न्नाद्याय।

ता.ब्रा.१२।१०।१०

अर्थात् विराज मे सम्यक् मिलन (समीचीः) और विशेष थामने की शक्ति होती है। अन्न आदि की प्राप्ति के लिये विराज को धारण किया जाता है। यहां अन्न मानसिक अन्न है। मन मे जो विषय सोचा हुआ है और विशेष रूप से थमा हुआ है वह मानसिक अन्न है। विषय का चिन्तन करना उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियों को समझना और मन मे उनको थामे रखना किसी बिरले व्यक्तिका काम है। मन की यह शक्ति वैराज कहलाती है। मन के वैराज रूप का दूसरा गुण अनुतोद का होता है।

अनुतोद बारबार प्रेरणा देने को कहते है। मन वाणी को, विचारों को प्रकट करने के लिये पुनः पुनः प्रेरित करता रहता है। मन की वाणी को यह प्रेरणा अनुतोद है। विषय पूर्वापर (समीचीः) सम्यक् प्रकार से मिला हुआ तथा मन में सम्यक् प्रकार से थमा हुआ (विष्टम्भाः) होना चाहिये जिससे कि विषय वाणी द्वारा बाहर आता जाये। इसलिये कहा है--

अनुतोदो वैराजस्यानुतुन्नं हि वैराजम् ॥

ता. ब्रा. ८।९।१३

वैराज का स्वरूप अनुतोद है। अनुतोद अभ्यास या बार-बार की प्रेरणा को कहते है।

अनुतुन्नं गायति रेतोधेयायानुतुन्नाद्धि रेतो धीयते ॥ ता. ब्रा. १२।१०।११

प्रजनन के लिये रेतस् के धारण की आवश्यकता होती है। और यह रेतस् अनुतुन्न प्रक्रिया से धारण किया जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र की उत्पत्ति में भी यह अनुतुन्न प्रक्रिया करनी पड़ती है। बार-बार भक्ति मे गाना, जप करना, विषय का बार-बार चिन्तन अनुतोद ही है। इस प्रक्रिया से जो मन में

रेतस् धारण होता है उससे गम्भीर विचारों और दिव्यज्ञान की उत्पत्ति होती है और वह विष्टभ और समीची गुणों वाली होती है।

इस प्रकार मन में रेतस के धारण के लिये प्रेरणा प्रजनन, तथा दिव्य विचार और दिव्यज्ञान का समीची और विष्टभ होना यह सब वैराज का स्वरूप है। समग्र प्रेरणायें सविता की आज्ञा के अधीन होती हैं। इस लिये वैराज का सम्बन्ध सविता देव से भी बताया गया है।

शाक्वर साम की उत्पत्ति

आगे ऐतरेय ब्राह्मण में शाक्वर साम की उत्पत्ति को बताया गया है। वहां आता है कि---

ते द्वे भूत्वा बृहच्च वैराजं च रथन्तरं च वैरूपं चात्यमन्येतां तद् रथन्तरं गर्भमधत्त तच्छाक्वर-मसृजतेति ॥ ऐ. ब्रा. १९।५।४।२८

अर्थात् बृहत् और वैराज इन दोनों ने अपने आपको रथन्तर और वैरूप से अधिक माना। इससे रथन्तर ने गर्भ धारण किया और शाक्वर साम की उत्पत्ति हुई।

अब विचारणीय यह है कि शाक्वर साम क्या है ? शक्वरी छन्द से आहार्य अर्थात् ग्राह्य और निष्पन्न होने के कारण शाक्वर साम कहलाता है। ऐ. ब्रा. २२।२ के भाष्य में षड्गुरु शिष्य ने लिखा है—

शकेर्वनिप् तु करणे ङीष् (वनो रच)शक्वरी।
ऋचामासां शक्वरीत्वात् तत्स्थ साम च शाक्वरम्॥

शक्वरी छन्दों का नाम शक्वरी क्यों हुआ यह हम विशेष तौर पर आध्यात्मिक क्षेत्रों में प्रदर्शित करते है। ता. ब्रा. १३।४।१ में आता है—

इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावद् वृत्रं हनानीति तस्मा एतच्छन्दोभ्य 'इन्द्रियं वीर्यं' निर्माय प्रायच्छदेतेन शक्नुहीति तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्। सीमानमभिनत् तत् सिमा मह्न्यामकरोत् तन्मह्न्या, महान् घोष आसीत् तत् महानाम्न्यः॥

इन्द्र प्रजापति के पास पहुंचा और कहा कि वृत्र को हनन करना चाहता हूं। प्रजापति ने इन्द्र को छन्दों द्वारा इन्द्रिय सम्बन्धी वीर्य का निर्माण कर प्रदान किया और कहा कि 'एतेन शक्नुहि' इस शक्ति से अपना सामर्थ्य प्रदर्शित कर अर्थात् वृत्र का हनन

कर। 'शक्नुहि' जो कहा इससे इन छन्दों का नाम शक्वरी पड़ा। जब इन्द्र ने वृत्रासुर पर इन्द्रिय सम्बन्धी वीर्य से प्रहार किया तो इससे वृत्रासुर के 'सीमन्' का भेदन हो गया। इससे इन छन्दों का सिमा नाम भी हो गया। सीमन् के भेद के समय इन्होंने महान् घोष किया तो उन छन्दों का महानाम्नी नाम भी पड़ गया।

यह उपर्युक्त प्रकरण कुछ परिवर्तन से जैमिनीय ब्राह्मण में भी आता है। इस प्रकरण को हम शरीर में घटाने का प्रयत्न करते हैं। इन्द्र इन्द्रियों का स्वामी है और प्रजापति आत्मा और परमात्मा है। शरीर मे जीव के कर्मानुसार सर्व अंगों का निर्माण हुआ करता है। प्रजनन के स्वामी परमात्मा की शक्ति सब साधन जुटाती है। गर्भ मे अंगों और उपाङ्गों के निर्माण होने से पूर्व वे जिस त्वचा से घिरे होते हैं वह वैदिक परिभाषा में वृत्र (आवरण) है। इस वृत्र को भेदन करके आंख, नाक, कान आदि अंगों का निर्माण करना वृत्र का हनन करना है। और जिन रसों द्वारा तत्तद् अंगों का निर्माण करना है वे छन्दों (अंग-परिधि) से निर्मित वीर्य है।

इन वीर्य रसों द्वारा अंगों की सीमा का भेदन करना सिमा नाम को चरितार्थ करना है। शरीर में अंगों के घेरे (छन्द) ही शक्ति के पुञ्ज हैं। शक्ति वाले हैं। इसलिये इन्हें शक्वरी कहा है। इस दृष्टि से जिन अंगों से शक्ति का प्रकटन होता है वे भी सब शक्वरी की कोटि में आ जाते हैं। अत एव दो सींगों वाले पशु भी शक्वरी नाम से कहे जाने लगे (ता. ब्रा. १३।४।३) क्योंकि सींगों से शक्ति का प्रकटन होता है।

शक्वरी के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रकरण भी द्रष्टव्य है। वहां आता है—

इन्द्रो वा एताभिर्महान् आत्मानं निरमिमीत तस्मात् महानाम्न्योऽथो इमे वै लोका महानाम्न्यः, इमे महान्तः, इमान् वै लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद् यदिदं किंच तच्छक्वर्योऽभवन् तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्। ता ऊर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत तत्सिमा अभवंस्तत् सिमानां सिमात्वम्॥

ऐ ब्रा. ५।७

इन्द्र ने इन ऋचाओं द्वारा अपने को महान्

बनाया । इसलिये वे महानाम्नी कहलाती है । ये लोक महानाम्नी है अतः ये महान् है । प्रजापति ने इन लोकों का सर्जन कर इन सबको शक्तियुक्त बनाया, अतः ये शक्वरी भी है । इन लोकों (अंगो) की सीमा का भेदन किया अतः ये सीमा भी है । यही सिमा का सिमात्व है ।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि ऋचा जहां मंत्र का सूचक है वहां वस्तु के ढांचे (ऋगस्थिः साम प्राणः)को भी द्योतित करता है । इन ऋचाओं अर्थात् लोकों का निर्माण कर प्रजापति ने इनमे प्राण संचार किया तो ये शक्तियुक्त बने । इनमें प्राण अर्थात् शक्ति का संचार करना शाक्वर साम है । इन अंगो की सीमा का भेदन किया जाता है । अतः ये ऋचायें सिमा भी है। इस प्रकार शक्वरी, महानाम्नी और सिमा आदि नाम ऋचाओं और मंत्रों के लिये भी आते है और उनसे निर्दिष्ट अंगों, उपांगों और लोकों के लिये भी प्रयुक्त होते है । इन शक्वरी अंगों में जो प्राण होता है, अथवा इन शक्वरी छन्दों पर जो साम गाया जाता है, दोनों शाक्वर साम कहलाते है । इस प्रकरण मे शाक्वर

साम की उत्पत्ति रथन्तर अर्थात् वाक्में है। इससे यह स्पष्ट है कि शाक्वर साम से प्रकट होने वाली शक्ति वाणी की शक्ति है । जिसके मन में विषय प्रभूत मात्रा में विद्यमान होता है और वह विष्टम्भ और समीची गुणों वाला होता है तो उसकी वाणी में भी शक्ति का संचार हो जाता है । शक्वरी छन्दों पर जो साम गाया जाता है, उसे बहुत ऊंची आवाज मे गाना चाहिये । कहा भी है 'यच्छक्वरीषु बृहता रवेण' तै. ब्रा. २।४।३।१ आवाज इतनी ऊंची हो कि शत्रु पर वज्रपात के समान पड़े । इसी लिये कहा कि 'शाक्वरो वज्रः' तै. ब्रा. २।१।५।११ शाक्वर साम वज्र है । जिस जाति मे वाणी का तेज और ओज होता है वह दूसरों पर हावी हो जाती है ।

रैवत साम की उत्पत्ति

तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च शाक्वरं च बृहच्च वैराजं चात्यमन्यन्त तद् बृहद् गर्भ-मधत्त तद्रैवतमसृजत ।।

ऐ. ब्रा. १९।६।४।२८

अर्थात् जब रथन्तर, वैरूप और शाक्वर ये तीनों मिलकर अपने आपको बृहत् और वैराज इन दो से अधिक समझने लगे तब बृहत् ने गर्भ धारण किया। इससे रैवत साम की उत्पत्ति हुई।

अब विचारणीय यह है कि रैवत क्या है? रेवती छन्द पर गाया जाता हुआ साम रैवत होता है। रेवती छन्द वह है जिसमे रमण हो, व ऐश्वर्य हो। कहा है 'रेवती रमध्वम्' यजु. ३।२१ श.प. ३।७।३।११ शक्ति वाला पुरुष ही ऐश्वर्य प्राप्त करता है और उसमें वह रमण करता है। आनन्द का उपभोग करता है। यह रमण व आनन्द का उपभोग मन का धर्म है। इसलिए हमने बृहत् को गर्भ माना है।

तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः ॥ अथर्व. १३।१।५

रेवती अर्थात् ऐश्वर्य से युक्त शक्ति साधनों से ये द्यावापृथिवी तेरे लिये यथेष्ट दोहन करे। इस प्रकार बृहत् व रथन्तर के स्वरूपनिर्धारण और उनके कुछ क्षेत्रों का अति संक्षिप्त विचार हमने यहां प्रस्तुत किया। ये दो वेद की परिभाषाएं हैं। शास्त्रों में इन पर बहुत विचार हुआ है।

—०—

वेद की समस्याओं पर महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण

आर्य समाज महर्षि दयानन्द सरस्वती को वेदों का पुनरुद्धारक मानता है, प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों माना जाता है ? क्या स्वामी दयानन्द के समकालिक मैक्समूलर आदि योरोपियन विद्वानों ने वेदों के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसन्धान का उपक्रम न किया था ? उस कालावधि में पूर्व व पश्चिम के भूखण्डों में विद्यमान विद्वन्मण्डली की मानस चेतना मे वेदाध्ययन व अनुसन्धान की एक नई स्फुरणा प्रादुर्भूत हुई थी। वेदों के प्रति एक नवीन आकर्षण पैदा हुआ था। इस लिये कई विद्वानों को यह अभीष्ट नहीं है कि वेदों के पुनरुद्धारक का सेहरा केवल स्वामी दयानन्द के ही सिर पर बांधा जाय। इस सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यह सत्य है कि उस समय वेदाध्ययन के प्रति उमंग, उत्साह व स्फूर्ति आदि प्रकृति प्रेरित नवचेतना का सहज परिणाम था जो कि भारत व योरोपियन

भूभागों के विद्वानों मे एकसा दृष्टिगोचर होता है। पर यह सब स्वीकार करते हुये भी हमारी धारणा यह है कि वेदों का सत्य रूप में पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द ने ही किया है। क्योंकि स्वामी दयानन्द ने वेदाध्ययन मे उस निराली, अनुपम व सर्वोत्कृष्ट पद्धति को अपनाया है जो कि आर्य परम्परा पर आश्रित है। ऐसा योरोपियन विद्वानों ने नहीं किया। इसलिये हम महर्षि दयानन्द को ही वेदों का पुनरुद्धारक मानते है। उस विलुप्त आर्ष परम्परा को स्वामी दयानन्द ने अपनी दिव्य व आर्ष दृष्टि से देखा और अपने भाष्य मे उसका अनुसरण किया। भूतकाल मे आर्ष परम्परा की जो शृंखला टूट गई थी उसे पुनः स्थापित किया।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण करते हुये उन्होंने लिखा है :—

आर्याणां मुन्यृषीणां या
व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था
विधास्यन्ते तु नान्यथा॥

अर्थात् "इस वेद भाष्य मे अप्रमाण लेख कुछ

भी नहीं किया जाता है किन्तु जो ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुये हैं और उनकी जो व्याख्या रीति है, उससे युक्त ही बनाया जायेगा।"
एक अन्य स्थल पर भी उनके ये उद्गार हैं :—

"न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।"

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने ऋषियों की रचना को ही प्रामाणिक माना है। परन्तु इसके विपरीत योरोपियन विद्वानों ने अत्यन्त अर्वाचीन सायणाचार्य को प्रमुख रूप से अपने अध्ययन का साधन बनाया।

अब प्रश्न यह है कि वह सनातन काल से चली आ रही व्याख्या रीति क्या है? निःसन्देह वह अद्भुत व्याख्या रीति केवल ब्राह्मण ग्रन्थों की है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्वाक् कालीन स्कन्द व उद्गीथ आदि वेदभाष्यकारों के भाष्य भी एकांगी हैं। एकभक्ति वाले अर्थात् प्रमुख रूप से एक क्षेत्र वाले हैं। वे ब्राह्मणग्रन्थों के समान बहुभक्तिवादी अर्थात् अनेकों क्षेत्रों को स्पर्श करने वाले नहीं हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ अनेकों क्षेत्रों में ही विचार करने वाले नहीं हैं,

वे तो एक क्षेत्र के भी अवान्तर भेदों, जिन्हें भक्ति-साहचर्य कहा जाता है को भी दर्शाते है। "भक्ति साहचर्य" एक ही क्षेत्र के विभिन्न स्तरों का वाचक है। यथा अध्यात्म में इन्द्र का केन्द्रीय अर्थ यदि हम दिव्य मन (इलुमाइंड माइन्ड) मान लें तो वाक्, वीर्य, रेतस् व शिश्न आदि इन्द्र के वाचक शब्द "भक्ति साहचर्य" वाले कहे जायेंगे। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ अवान्तर भेदों के सहित सभी क्षेत्रों का वर्णन साथ-साथ करते है। यही व्याख्या शैली हमें स्वामी दयानन्द के भाष्य मे दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने वेदभाष्य मे अन्वय, अर्थ, भावार्थ आदि में अनेकों क्षेत्रों की ओर संकेत किया है। मुख्यार्थ एक है पर संकेत अन्य क्षेत्रों का भी किया है। ब्राह्मणग्रन्थों की 'ता एता एकव्याख्यानाः' मन्त्र के ये एक व्याख्यान है--इस उक्ति को चरितार्थ किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली में और भी कई विशेषतायें है। संक्षेप में कहना चाहे तो यह कह सकते है कि वह शैली आख्यानात्मक है, कर्मकाण्ड बहुल है, तथा विशिष्ट परिभाषाओं के कारण निरालापन लिये हुये है।

स्वामी जी ने यजुर्वेद का भाष्य किया और पग-पग पर शतपथ ब्राह्मण की ओर संकेत किया। इससे यह ध्वनि निकलती है कि स्वामी जी ने अपने भाष्य मे शतपथ ब्राह्मण की विशिष्ट पद्धति का पूर्ण अनुसरण चाहे न किया हो परन्तु उस शैली का वे खण्डन भी नहीं करते है और उसे उपयुक्त समझते है। उन्होंने अपने यजुर्वेद के भाष्य के प्रथम अध्याय में प्रायः प्रत्येक मन्त्र पर यह लिखा है कि "एष मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः" अर्थात् इस मन्त्र की शतपथ ब्राह्मण मे अमुक स्थल पर व्याख्या की गई है। ऋषि दयानन्द के इस कथन का केवल एक ही तात्पर्य है,और वह यह है कि वे यजुर्वेद के मन्त्र-विचार मे शतपथ ब्राह्मण के भाष्य को प्रामाणिक मानते है क्योंकि शतपथादि आर्ष ग्रन्थों के सम्बन्ध मे ऋषि दयानन्द के जो भी उद्गार है उन सबको दृष्टि मे रखते हुये यही कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द ब्राह्मण ग्रन्थों की उस निराली शैली को स्वीकार करते है। उन्हों ने लोक-व्यवहार मे तथा साहित्य क्षेत्र में जहां भी वैमत्य हुआ है उसे छिपाया नहीं है। वेद-भाष्य मे अनेकों स्थलों पर मैक्समूलर, सायण

तथा उव्वट, महीधर आदि भाष्यकारों का खण्डन किया है पर शतपथ आदि आर्ष ग्रन्थों का अपने समग्र साहित्य मे कहीं भी खण्डन नही किया है। इस वाक्य (एष मन्त्रः....) को दृष्टि मे रखते हुये यह विचारणीय हो जाता है कि क्या स्वामी जी का यजुर्वेद भाष्य शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या का ही रूपान्तर है या उससे स्वतन्त्र है। इस सम्बन्ध मे सचाई यह है कि हम कोई निर्णय नहीं दे सकते। क्योंकि आर्यसमाज ने अभी तक ऐसा प्रयत्न कभी किया नहीं। अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों की भाष्य शैली के कुछ अंगों पर विचार करते हैं।

कर्मकाण्ड

"कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्" प्रतिज्ञाविषयः।

वेद पर लेखनी उठाने वाले आर्य समाजी विद्वान् कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर जाते हैं। परन्तु हमारे विचार मे इस उपेक्षा से काम न बनेगा। कर्मकाण्ड के इस विद्यमान रूप के पक्ष-विपक्ष में

फिलहाल लेखनी न उठाकर इसको व्यापक रूप देकर ब्राह्मण ग्रन्थों के सब संदर्भों की आधुनिक भाषा मे व्याख्या कर देवे तो हम स्वामी जी की ग्रन्थारम्भ मे मङ्गलाचरण में की हुई प्रतिज्ञा को स्पष्ट व पुष्ट कर सकेंगे। अधियज्ञ से प्राय: कर्मकाण्ड का ग्रहण किया जाता है। परन्तु यदि इसे ब्रह्माण्ड यज्ञों व पिण्डयज्ञों का प्रतीक मान लिया जाय तो सब समस्या हल हो जाती है। कर्मकाण्ड के नाटकीय पात्रों को प्रतीकात्मक मानकर ब्रह्माण्ड यज्ञों व पिण्ड यज्ञों के पात्रों मे घटाया जा सकता है। कर्मकाण्ड का विषय व क्षेत्र बहुत संकुचित नहीं है। महर्षि दयानन्द ने इसे सर्व क्रिया रूप माना है। इहलौकिक उपलब्धि के साथ-साथ पारलौकिक सभी उपलब्धियां, मोक्ष प्राप्ति व भगवान् की प्राप्ति तक उन्हों ने इसमे समाविष्ट किये है। (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेद विषय विचार)।

अत: संसार की क्या वस्तु अवशिष्ट रही जो कर्मकाण्ड मे न समाई हो। ज्ञानोपलब्धि भी तो क्रिया ही है जिसे कि ज्ञानयज्ञ कहा गया है।

जब भगवान् स्वयं यज्ञ१ रूप है और तदुत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टि२ भी यज्ञ रूप है तो यज्ञ के अतिरिक्त संसार में कुछ है ही नहीं यह हम निःसंकोच भाव से कह सकते है। चारों वेद३ भी इस यज्ञ रूप भगवान् से उत्पन्न हुये है अतः ये भी यज्ञ रूप हैं। शतपथ ब्राह्मण में इन्हे यज्ञ रूप कृष्णाजिन के लोम माना है। और प्राचीन शास्त्रों में स्वयं ब्रह्म४ को यज्ञ माना है।

एक स्थल पर आत्मा व परमात्मा यजमान५ हैं तो अंग ऋत्विज है। वेद का पुरुष सूक्त तो यज्ञ की

---

१ यजु० ३१ अध्याय।

२ यज्ञो वै भुवनम्।

तै० ब्रा० ३।३।७।५

३ यजु० ३१।७ सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। शतपथ १।१।४।३।

४ ब्रह्म हि यज्ञः। श० प० ३।१।४।१५, ५।३।२।४, ऐ० ७।२२।

५ आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः। ६।५।१२।१६ आत्मा वै यज्ञः। ११।६।२।१।७

सर्वाङ्गीणता को स्पष्ट रूप मे दर्शा रहा है। इन सब उद्धरणों को दृष्टि में रख कर हम यह कह सकते है कि पहले आर्ष युग में विचार ही यज्ञ रूप में हुआ करता था। सब कुछ यज्ञ नाम से सम्बोधित होता था। कर्मकाण्ड[६] और ब्रह्मकाण्ड ये दो विभाग करना तथा इन विभागों मे शास्त्रों का बंटवारा कर देना, अत्यन्त अर्वाचीन प्रयत्न है। और यह मुख्य रूप से उस समय का है जब कि कर्मकाण्ड का व्यापक स्वरूप समाप्त होकर यान्त्रिक रूप मे कुछ कुछ ड्रामा रूप मे बाह्य भौतिक यज्ञ याग में यह रूढ हो गया था। हमारे विचार में संसार को देखने की ये दो मनोवृत्तियां है। एक आत्मवादियों की और दूसरी देवतावादियों की। आत्मवादी सूत्रात्मा रूप में विचार करते हैं। उनके मत मे वेदों में प्रमुख रूप से सूत्रात्मा का ही वर्णन है। केवल सूत्रात्मा ही नहीं सूत्रात्मा के भी सूत्रात्मा है ऐसा हमें समझना चाहिये। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति आत्मविदों की पूर्व सीमा से कुछ नीचे उतरे। उन्होंने आत्मा को

---

६ सायणाचार्य कृत काण्व संहिता भाष्य भूमिका।

प्रमुख केन्द्र न रख कर भौतिक तत्वों के आधार पर सोचना आरम्भ किया। आत्मतत्व को सीधा न देख कर अग्नि, सूर्य आदि भौतिक तत्वों के माध्यम से देखा। और उस आत्म-तत्व को त्रिलोकी के अग्नि, वायु, सूर्य इन त्रिदेवों मे विभक्त किया। उनके मत में अन्य सब देव संस्थानैकत्व व सम्भोगैकत्व के आधार पर इन्हीं तीनों पर आश्रित है।

इस विषय को हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों ने ब्रह्माण्ड व पिण्ड के रहस्यों को समझाने के लिये वेदों की यज्ञ रूप में व्याख्या की है।

विनियोग

महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को ऋषि-प्रणीत वेद-व्याख्यान माना है। ये ब्राह्मण व श्रौत सूत्र आदि ऋषि प्रणीत ग्रन्थ मन्त्रों का विभिन्न क्षेत्रों में विनियोग दर्शाते हैं। यह विनियोग आज-कल विद्वानों में बड़ा विवाद का विषय बना हुआ है। परन्तु हमारा विचार यह है कि खण्डन से पूर्व इन विनियोगों पर ऊहापोह द्वारा खूब विचार हो जाना

चाहिये। यह सही है कि "यज्ञ की पूर्णता व समृद्धि उसी समय है जबकि उस क्रियमाण कर्म को ऋचा व यजु कहते है।" परन्तु हमारी सम्मति में यह अटूट नियम नहीं होना चाहिये। क्योंकि कई मन्त्रों की रचना इस प्रकार की होती है कि वे अनेकों क्षेत्रों व अनेकों अवसरों पर विनियुक्त हो सकते हैं। यह प्रवृत्ति प्राचीन समय में भी थी और आज-कल भी है। आर्यसमाजी "विश्वानि देव०" के प्रार्थना के आठ मन्त्रों का विनियोग विवाह के अवसर पर, मृतक की अर्थी के साथ न जाने कहां-कहां कर देते हैं। महर्षि दयानन्द ने "भद्रं कर्णभिः शृणुयाम देवाः" मन्त्र का विनियोग कर्णवेध में दिखाया है। उपनिषदों के रचयिता ऋषियों ने इसे मङ्गलाचरण में विनियुक्त किया है। और ध्यान देने की बात तो यह है कि स्वामी जी ने कर्णवेध के मन्त्रों को नासिका के बींधने में भी प्रयुक्त कर दिया है। इससे हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि मन्त्रों के विनियोग के सम्बन्ध मे इतनी दृढ़ता नहीं होनी चाहिये कि एक मन्त्र एक ही स्थल पर विनियुक्त हो और अन्यत्र न हो सके। स्वामी दयानन्द यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र

"इषेत्वोर्जेत्वा०" का व्याख्यान करते हुये शतपथ ब्राह्मण के वाक्यों को उद्धृत करते है, परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ द्वारा पर्ण शाखा मे विनियुक्त "इषेत्वा०" के खण्डन में कुछ नहीं लिखते। क्योंकि उनकी दृष्टि में इस मन्त्र भाग का शाखा–छेदन मे विनियोग अनुपयुक्त नहीं था, ऐसा हम कह सकते है। यह सृष्टि का एक गुह्य रहस्य है। गायत्री श्येन बनकर तृतीय द्युलोक से सोम ला रही थी तो उसका एक पर्ण, पलाश (प्लैक्सस-चक्र) कट गया। हमारे शरीर में ये आठ चक्र 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं' वाले शरीर रूपी वृक्ष के पत्ते ही तो है। इन चक्रों अर्थात् पत्तों की शाखायें शरीर में फैली हुई हैं। उन्हीं पर्ण शाखाओं की ओर संकेत करते हुये मन्त्र कहता है कि "हे शाखा! तुझे इष अन्न, गति (विज्ञान) के लिये, तुझे ऊर्ज के लिये आश्रय करता हूं। तुम सब प्राण रूप (वायवः) हो।" इस सम्बन्ध में एक और विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करते है। महाभारत में गरुत्मान् द्वारा सोमाहरण की कथा कुछ भिन्न रूप मे वर्णित हुई है। विनता का पुत्र गरुत्मान् सोमाहरण के लिये जाता है। पिता कश्यप के आदेश से हाथी

ग्रौर कच्छप को खाने के लिये ज्यों ही पेड़ पर बैठता है, त्यों ही शाखा टूट जाती है । नीचे शाखा में बालखिल्य ऋषि तप कर रहे हैं । ग्रब इसको शरीर में घटाइये । सुपर्ण वाक् है, गरुत्मान् भी वाक् है, इस वाक् रूपी सुपर्ण का जहां पंजा है, वहां ग्रन्न प्रणाली ग्रौर श्वास प्रणाली दोनों ग्रापस में एक-दूसरे को काटती हैं । श्वास प्रणाली (ट्रेकिया) ग्रौर दोनों फेफड़े बिलकुल शाखा के समान प्रतीत होते हैं यह किसी भी शरीर-विज्ञान की पुस्तक में देख सकते हैं । इस शाखा में फेफड़ों के ग्रन्दर छोटे-छोटे वायुकोषों (एलवियोलाई) मे बालखिल्य नामक ऋषि हैं । बालखिल्य प्राणों को कहा जाता है । इन एलवियोलाई को महाभारत में गोष्पद कहा है जिनमें कि ये डुबकी लगा रहे हैं । एक बार इन्द्र (दिव्यमन)ने इनकी हंसी उड़ाई थी । इस ग्रलंकार बहुल कथानक का स्पष्टीकरण हम फिर कभी करेंगे । इस प्रकार इस श्वास प्रणाली(ट्रेकिया) की शाखा को पंजे मे दबोचे हुये यह वाक् रूपी सुपर्ण ग्रनन्त ग्राकाश की ग्रोर उड़ा चला जा रहा है । इस ग्राधार पर 'इषेत्वा०' 'ऊर्जेत्वा' मन्त्र का शाखा छेदन में

विनियोग निस्संकोच भाव से कीजिये। 'इषेत्वा०' हे अन्न प्रणाली रूपी शाखा! मैं तुम्हें अन्न के लिये, हे श्वास प्रणाली रूपी शाखा! मैं तुम्हें ऊर्ज के लिये प्राप्त करता हूं। इस प्रकार शाखा छेदन का यह सांकेतिक व्याख्यान हमने यहां किया है।

यजुर्वेद, वायुवेद, विष्णुवेद ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। ये सब कथन बड़े विस्तृत विचार की अपेक्षा रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रकारों के विनियोग पर खूब ऊहापोह होनी चाहिये। स्वामी जी ने भी इनकी गहराई को समझते हुये विनियोग का खण्डन नहीं किया है। और यह लिखा है कि 'इस वेद भाष्य में शब्द और उनके अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुये वेदमन्त्रों में से जहां-जहां जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहियें उनका वर्णन यहां नहीं किया जायेगा क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्व-मीमांसा श्रौत गृह्य सूत्रादिकों में कहा हुआ है उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के

समान दोष इस भाष्य में भी आ सकता है ।'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

स्वामी जी का यह कथन उपर्युक्त वाक्य (एष मन्त्रः. . .) की स्थिति व व्याख्या को स्पष्ट कर रहा है ।

निर्वचन

ब्राह्मणों की एक विशेषता निर्वचन की भी है । यह विषय भी बहुत गम्भीर है । प्रश्न यह है कि निर्वचन का कोई नियम व कोई सीमा भी है या नहीं ? यास्क आदि के प्राचीन निर्वचनों पर आधुनिक विद्वानों ने आक्षेप भी शुरू कर दिये हैं । इस लिये भी यह विषय बहुत विचारणीय हो जाता है । इस सम्बन्ध में हम एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । निरुक्तकार ने गो शब्द की व्युत्पत्ति गम् और गा धातु से की है । परन्तु भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में इस गो शब्द की व्युत्पत्ति गिरति, गर्जति, गदति, गजति और गवति आदि धातुओं से बतायी है । अब प्रश्न यह है कि इन निरुक्तियों का क्या आधार है ? क्या किसी आधुनिक विद्वान् को नई

निरुक्ति करने का अधिकार है या नहीं ? यह इस लिये विशेष विचारणीय है कि कहीं अव्यवस्था न हो जाय। मनमानी निरुक्तियां होने लगे तो मन्त्रों के अर्थ भी मनमाने होने लगेंगे। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित हो एक निरुक्ति की कल्पना हम भी प्रस्तुत करते हैं।

धातु पाठ में दो धातुयें हैं। गॄ शब्दे और गॄ निगरणे। प्रतीत ऐसा होता है कि वैदिक युग मे 'गॄ' निगरणे एक ही धातु होगी। गॄ धातु से उत् और नि उपसर्ग लगाकर उद्गिरण व निगरण ये दो शब्द बनते हैं जो कि दो क्रियाओं को बताते हैं। जिनको हम भाषा मे उगलना और निगलना कह सकते हैं। ध्वनि व शब्द में भी यही निगलने व उगलने की प्रक्रिया होती है। वाणी मन मे विद्यमान विषय को निगल कर फिर बाहर उगल देती है। शतपथ ब्राह्मण १।४।५ में मन और वाणी की श्रेष्ठता का विवाद चला है। वहां पर मन ने अपनी श्रेष्ठता का जो हेतु दिया है वह यही है कि मन में जो होता है उसे लेकर वाक् सेविका की तरह बाहर उगल देती है। इसलिये हमारी धारणा यह है कि वास्तविक

धातु गॄ निगरणे है। शब्द को विशेषता देने के लिये सामान्य गॄ धातु से उसे पृथक् करके दिखा दिया है। इस रहस्य को न समझने के कारण होता यह है कि वेद में जिस स्थल पर 'गो' शब्द आता है, वहां पर हम उसका वाणी अर्थ कर देते हैं। जिससे कई मन्त्र अत्यन्त अस्पष्ट व असंगत से रह जाते हैं। उदाहरण के तौर पर दो एक मन्त्र हम यहां दिखाते हैं।

> यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत
> तं त्वा गीर्भिर्हवामहे ।
>
> ऋ० ८।४३।२८॥

हे बलशालिन् अग्नि ! जो तू द्युलोक मे उत्पन्न हुई है और जो जल मे उत्पन्न हुई है उस तुझ को हम वाणियों द्वारा आह्वान करते हैं। अब इस मन्त्र पर जरा विचार कीजिये कि जो द्युलोक मे उत्पन्न होने वाली अग्नि है, और जल में पैदा होने वाली अग्नि है, वह कौन सी हो सकती है ? हमे यह मानना पड़ेगा कि द्युलोकस्थ अग्नि सूर्य से उत्पन्न होने वाली अग्नि है, ताप है, और जलीय अग्नि मेघस्थ विद्युत है अथवा जल से पैदा होने वाली बिजली।

अब विचारणीय यह है कि इनको वाणी से कैसे बुलावे ? वाणी से बुलाने का मतलब भी कुछ नहीं । परन्तु यदि 'गौ' का अर्थ हम निगलने व उगलने वाली कर लेवे तो सब समस्या हल हो जाती है । ये निगलने उगलने वाली तारें हैं जिनके द्वारा बिजली एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है । और सूर्य से आने वाली अग्नि किरणों द्वारा निगली व उगली जाती है । इससे मन्त्र सुसङ्गत व स्पष्ट हो जाता है । इसी दृष्टि से 'गौ' के अनेकों क्षेत्रों में विभिन्न अर्थ हो सकते हैं । ये नस नाड़ियां (नरवस सिस्टम, सरकुलेटरी सिस्टम) आदि भी 'गौ' नाम से कही गई हैं । ये भी मस्तिष्क से आज्ञा लेकर अन्य अंगों के पास पहुंचाती हैं ।

ऋ० ८।३।२० में कहा गया है कि 'निः सोम इन्द्रियो रसः' अर्थात् ऐन्द्रियिक रस सोम है । यह ऐन्द्रियिक सोम जब 'गौः' में भरा हुआ कहा गया हो और अध्यात्मक्षेत्र हो तो वहां 'गौः' से नस-नाड़ियां अर्थ ले सकते हैं । एक मन्त्र है—

त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्
आच्यावयस्यूतये । ऋ० ८।९२।७

हे इन्द्र ! तू सोम को जो (विश्वासु गीर्षु) सम्पूर्ण नस-नाड़ियों मे व्याप्त है उसको (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (आच्यावयसि) च्युत व प्रवाहित करते हो ।

आख्यान

अब हम आख्यानों के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं —

प्राचीन ऋषि लोग आख्यानप्रिय होते थे । वेदों मे सांकेतिक रूप मे संज्ञाओं द्वारा वर्णित गुह्य रहस्यो को ब्राह्मणादि ग्रन्थों में आख्यानो द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । परन्तु जब तक इन आख्यानों सहित संपूर्ण सन्दर्भों का अपनी मान्यता के अनुसार स्पष्टीकरण नहीं हो जाता है तब तक यास्क व स्कन्द आदि प्राचीन आचार्यों के ऐतिहासिकत्व को खण्डन करने वाले उद्गारों का प्रतिपक्षी विद्वानों की दृष्टि में कोई विशेष मूल्य नहीं है । ये आख्यान भी ब्राह्मण ग्रन्थों मे भरे पड़े हैं । अतः इनका स्पष्टीकरण होना चाहिये । उदाहरणार्थ हमने अपनी 'ऋषि-रहस्य' नामक

पुस्तक में दधीचि आदि ऋषियों के आख्यानों का स्पष्टीकरण किया है। स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के 'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय' में कई कथाओं का स्पष्टीकरण किया है और उन्हें रूपालंकार माना है। अतः महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वेद व ब्राह्मणग्रन्थ आदि आर्षग्रन्थों में निर्दिष्ट आख्यानों व कथानकों का स्पष्टीकरण होना अत्यावश्यक है।

—o—

वेदभाष्य

महर्षि दयानन्द ने वेदों को आर्य समाज व आर्य जाति का प्राण बताया है। यदि आर्यों में वेदों का असली रूप में प्रचार नहीं है तो और सब कुछ सुधार आदि के कार्य करते हुये भी आर्य समाज निष्प्राण व अस्थिपंजर के समान है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने वेदों का भाष्य किया और उसको आर्यसमाज का प्राण बताया। परन्तु इस पतित लुप्त आर्य जाति को जगाने के लिये अन्य सुधार आदि के कार्यों को करते हुये हमारे दुर्भाग्यवश उन्हे वह पूरा समय न मिल सका जिससे कि वे वेदों के भाष्य को पूरा कर जाते। उन्होंने यजुर्वेद का तो सम्पूर्ण भाष्य किया है परन्तु ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के २ य मन्त्र तक ही वे भाष्य कर सके। क्योंकि आर्यजाति के उत्थान व सत्य के प्रचार के लिये उन्हें सर्वत्र भारतवर्ष में भ्रमण करना पड़ता था। अब आर्य जाति का यह कर्तव्य है कि उनके अवशिष्ट भाग पर उसी शैली से विद्वानों से भाष्य कराकर आर्य समाज की तरफ से

एक प्रामाणिक भाष्य तैयार करावे।

इस अवशिष्ट भाग पर महर्षि का भाष्य होता तो अच्छा था। अब तो हम केवल इतना कर सकते हैं कि उनके भाष्य की प्रतिच्छाया इस अवशिष्ट भाष्य में अधिक से अधिक पड़ सके। और उसमें ऊपर यह लिखा हो कि अमुक आर्य समाज के विद्वानों द्वारा कराया गया भाष्य है। इस सम्पूर्ण भाष्य पर आर्य समाज की प्रामाणिकता की मोहर हो। यह हो सकता है कि इस समय के विद्वानों द्वारा कराया गया भाष्य पूर्ण प्रामाणिक न हो। कोई त्रुटि रह जाये। कुछ काल के अनन्तर उसमें सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता जान पड़े तो इसके लिये यह किया जा सकता है कि समय-समय पर १० वर्ष या २० वर्ष का व्यवधान देकर आर्य विद्वानों की एक संगीति की जाया करे और उस समय जिस स्थल में परिवर्तन की आवश्यकता हो वह परिवर्तन कर दिया जाया करे। बौद्ध धर्म में 'बौद्ध संगीति' ने समय-समय पर ऐसा ही किया है। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं दिखाई देता। वेद के अवशिष्ट अंश पर भाष्य कराने के लिये हमें किन-किन बातों का ध्यान

रखना चाहिये ? सुझाव के तौर पर तीन बातें हम आपके सामने रखते है ।

१. देवतार्थ–निर्णय ।
२. मन्त्रार्थ–निर्णय ।
३. पदार्थ–निर्णय ।

१. देवतार्थ निर्णय—

महर्षि ने एक-एक देवता व पद के कई-कई अर्थ किये है । इस अवस्था मे कौन सा अर्थ हमे लेना चाहिये यह एक विचारणीय विषय है । इस निर्णय में महर्षि की निम्न पद्धति हमे बहुत सहायक हो सकती है । वह पद्धति यह है कि वे अगले सूक्त की पूर्व सूक्त के साथ संगति लगाते रहे है । इस बात को दृष्टि मे रख कर हम देवता का अर्थ निर्णय करे, और देवता का भी वही अर्थ हो जो महर्षि अपने भाष्य मे कर चुके है । एक प्रकार से महर्षि कृत देवताओ के अर्थो मे चुनाव करना है ।

२. मन्त्रार्थ-निर्णय—

मन्त्रार्थ-निर्णय अर्थात् मन्त्र से क्या भाव प्रतीत होता है–इसमें विद्वानों की अपनी भी कुछ सूझ होगी, परन्तु इसमें भी देवतार्थ-निर्णय तथा

पूर्व सूक्त के साथ अगले सूक्त की संगति आदि कई बातें सहायक होगी ।

३. पदार्थ-निर्णय—

इसमे भी पद का वही अर्थ लेना होगा जो स्वामी जी अपने भाष्य मे उस पद का अर्थ कर चुके है ।

इन उपर्युक्त बातों तथा अन्य भी कई बातों को ध्यान मे रख कर यदि इस अवशिष्ट अंश पर भाष्य करें तो स्वामी जी की शैली पर सम्पूर्ण वेदों का भाष्य हो सकता है और जिसको आर्यसमाज यह कह सके कि यह हमारा प्रारम्भिक भाष्य है । इस सम्बन्ध में इस समय आर्य समाज की बहुत ही विचित्र स्थिति है । कोई पूछे कि आर्य समाज जो कि वेदों का डंका पीट रहा है उस का प्रामाणिक भाष्य कौन सा है ? स्वामी जी के भाष्य को तो वह आगे कर दे, परन्तु जब यह पूछा जाये कि अवशिष्ट अंश पर आप किसको प्रामाणिक मानते है ? इस पर मौनावलम्बन के सिवाय कुछ कर ही नहीं सकते । स्वामी जी नहीं कर सके तो क्या उस सम्बन्ध में कोई ऐसा भाष्य ही नहीं होना चाहिये जो आर्य समाज को प्रामाणिक हो । कोई भी विचारक

इस स्थिति को पसन्द नहीं करेगा। इसी दृष्टि से हम उदाहरण के रूप मे कुछ मन्त्रों का भाष्य आर्य जगत के विद्वानो के सामने रखते है। इसमे त्रुटियां हो सकती है। परन्तु लिखने का यही प्रयोजन है कि यदि आपको अभीष्ट हो कि आर्य समाज का कोई प्रामाणिक भाष्य हो तो उसे अवश्य करना चाहिये।

२

दूसरी बात जिस पर कि बहुत गम्भीरता से विचार होना चाहिये वह यह कि स्वामी जी को हम वेदों का उद्धारकर्ता मानते तो है परन्तु स्वाध्याय पठन-पाठन वा वेदान्वेषण मे स्वामी जी के भाष्य को कोई भी उठा कर नहीं देखता; यदि कोई देखते भी है तो वह बहुत ही कम है। साधारण जनता को तो वह भाष्य समझ मे ही नहीं आता। उनके लिये तो वह एक गुरु ग्रन्थ ही है। परन्तु विद्वान् भी उससे कोई सहायता नही लेते। कारण क्या है? यदि इस पर विचार करे तो इस सम्बन्ध मे भी कई बाते सुनने मे आती है। उदाहरण के लिये एक बात हम आपके सामने रखते है, वह यह है कि स्वामी जी

ने वेद भाष्य में एक सूक्त की दूसरे सूक्त के साथ संगति लगाई है, और सूक्त के अन्त मे ऐसा लिखा भी है। परन्तु कहते यह है कि भाष्य देखने से संगति लगती हुई दीखती नहीं। सूक्त की बात तो अलग रही कहीं-कहीं एक मन्त्र में ही पूर्वापर में संगति लगती हुई नहीं दीखती।

इत्यादि कई बातें सुनने मे आती है। विद्वानों के ऊपर ऐसा असर (इम्प्रेशन) क्यों है ? क्या स्वामी जी के भाष्य में ऐसी त्रुटि है ?

संक्षेप मे इतना लिखना पर्याप्त होगा कि स्वामी जी ने वेद भाष्य करते हुये यह लिखा है कि मेरा भाष्य शतपथादि ब्राह्मणों के अनुकूल है तो यह अनुकूलता दिखाने की आवश्यकता है। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में प्रतिपादित ऋषि, छन्द, देवता तथा परिभाषा आदि को आधुनिक भाषा में स्पष्ट करना और यह दिखाना कि स्वामी जी ने भी इन्हीं शब्दों को हिन्दी भाषा मे स्पष्ट किया है यह एक बड़ा भारी काम है। क्योंकि जितना भी प्राचीन आर्ष वैदिक वाङ्मय है उसमें उसी तरह की पद्धति दिखाई देती है। और कुछ परिभाषाओं मे निय-

न्वित व परिसीमित होकर उन का वर्णन करने का तरीका है। उन परिभाषाओं का आधुनिक भाषा में स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। और फिर इस में ही दूसरा काम यह है कि वेदार्थ करते हुये स्वामी जी ने कोई ऐसा क्षेत्र नहीं छोड़ा जिस पर उन्होंने प्रकाश न डाला हो। साधारणतया वेद पढ़ने वाले को स्वामी जी के भाष्य में अनुकूलता वा संगति क्यों नहीं दिखाई देती? उस का कारण यह है कि स्वामी जी ने कई क्षेत्रों को आपस में मिला दिया है। यही परिपाटी ब्राह्मण ग्रन्थो की भी है। इसलिये उनके लिये कहा गया है कि "बहु-भक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि" (भक्ति, भाग, क्षेत्र) अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ बहुत क्षेत्रों के सम्बन्ध मे बताने वाले है। बहुत से क्षेत्रों को मिला देने से वे सामान्य-दृष्टि से समझने कठिन हो जाते है। इसी कारण बड़े-बड़े वेद के विद्वान् वेदार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थों की उपेक्षा कर जाते है। वे उन्हे शुष्क वृथा निरर्थक कर्म काण्ड समझते है, परन्तु उन्हें यह पता होना चाहिये कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्दर विहित कर्मकाण्ड पिण्ड व ब्रह्माण्ड, अध्यात्म अधिदैव आदि मे हो

रहे यज्ञों का प्रतिनिधित्व करते है। इन सब क्षेत्रों का एक साथ वर्णन होने से ये समझने कठिन हो जाते है। ऐसा ही स्वामी जी के भाष्य में है।

स्वामी जी आर्ष कोटि के व्यक्ति थे, उन्होंने प्राचीन परिपाटी का अवलम्बन किया और फिर सब क्षेत्रों को मिला कर वर्णन करने से ही वे इतना भाष्य कर सके है। यदि वे प्रत्येक क्षेत्र को पृथक्-पृथक तथा सरल करके लिखना आरम्भ करते तो एक वेद का भी सम्पूर्ण भाष्य न कर सकते।

गहराई में पहुंचने वाले व्यक्ति को यह पद्धति कोई कठिन प्रतीत नहीं होती। दिव्य दृष्टि पुरुष के सामने सब क्षेत्र हस्तामलकवत् होते है। वे एक क्षेत्र के सम्बन्ध मे कहते हुये दूसरे क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी संकेत करते जाते है। यही प्राचीन परिपाटी थी। और फिर ब्रह्माण्ड व पिंड के सब क्षेत्रों का मिलान करते हुये अध्ययन करना ही वेद के रहस्यों को समझने के लिये सर्वश्रेष्ठ परिपाटी है। परन्तु साधारण जनता को इसमें अवश्य कठिनाई का अनुभव हो सकता है। परन्तु यह कठिनाई भी तभी तक है जब तक कि सर्व साधारण मे वेदों का पठन-

पाठन व प्रचार नहीं होता । इसके लिये यह किया जा सकता है कि एक-एक क्षेत्र में अलग-अलग ग्रन्थ लिखाये जाये और स्वामी जी के वेदार्थ को परिपुष्ट किया जाये तभी ये समस्याये हल हो सकती है ।

इन सब बातो को सोच कर हमने स्वामी जी की शैली से अगले कुछ मन्त्रो का भाष्य किया है । इन मे कई बाते स्पष्टीकरण की आवश्यकता रखती है, जिनको कि फुट नोट मे दिया जा सकता है । स्वामी जी ने इस कठिन आर्ष शैली को सरल बनाने के लिये अपने भाष्य मे सरल संस्कृत वा सरल हिन्दी देने का प्रयत्न किया है । इसलिये भाष्य में आगे इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि संस्कृत आदि सरल हो ये कुछ मन्त्र जो कि आर्य जनता के सामने रखने का हम प्रयत्न कर रहे है । वे ऋग्वेद के ७ वे मण्डल के ६१ वे सूक्त के मन्त्र है । ६१ वे सूक्त के प्रथम दो मन्त्रो पर स्वामी जी का भाष्य मिलता है । इस ६१ वे सूक्त के मित्र और वरुण देवता है । स्वामी जी ने मित्र और वरुण का अध्यापक और उपदेशक अर्थ किया है और इन्हें

प्राण और उदान तथा प्राण और अपान से उपमा दी है। जिस प्रकार प्राण का काम सर्वत्र प्राण क्रिया करना है उसी प्रकार उदान का काम नीचे न गिरने देकर ऊपर उठाते रहना है। ब्रह्माण्ड व पिण्ड मे प्राण और उदान के ये दोनों कार्य हो रहे है। इसी प्रकार अध्यापक व उपदेशक इन दोनों का कर्तव्य है कि वे अपने विज्ञान बल के आधार पर अन्नादि स्थावर तथा मनुष्यादि जंगम प्राणियों को अनुप्राणित करते रहें। और उदान की तरह उनके स्तर को ऊपर उठाये रक्खे। इसके लिये पृथिवी से लेकर द्युलोक तक जितना भी ज्ञान विज्ञान है सब उन्हे आना चाहिये। समाज-शास्त्र-विज्ञान, प्राणि विज्ञान, प्रकृति, आत्मा, परमात्मा सम्बन्धी सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का उन्हें पता होना चाहिये। जिस प्रकार शरीर मे प्राण प्राणन क्रिया करता रहता है और अपान मलों को बाहर निकालता रहता है इसी प्रकार वे श्रेष्ठ साधनों व उपदेशों द्वारा मनुष्यों को अनुप्राणित करते रहे, और अच्छे गुणों को धारण कराते रहें, जो दोष आदि बुरी बातें उनमें प्रविष्ट हो गई हों उन्हें दूर

करवाते रहें और मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि सदा अध्यापक और उपदेशक के पद की प्रतिष्ठा वा मान करे। उन्हे ऊंचा स्थान दें, और उनकी सेवा मे सदा तत्पर रहे। इसी प्रकार अन्य भी कई कर्तव्य इस सूक्त मे अध्यापक, उपदेशक तथा मनुष्यों के लिये बताये हैं जिन का पालन करते रहना चाहिये।

अगले ६२ वे सूक्त मे सूर्य के दृष्टान्त से भगवान् के गुणों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार इस सौर मण्डल को यह सूर्य धारण किये हुये है और सब को प्रकाशित वा अपने २ कार्यों मे प्रेरित करता है। इसी प्रकार वह भगवान् इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को थामे हुये है। और अपने-अपने नियत कार्यों में सब को प्रेरित कर रहा है। ऋषि-महर्षियों के हृदय मे यह भगवान् सूर्य के समान प्रकाशित होता है। किस प्रकार वह भगवान् हृदयों मे प्रकाशित हो सकता है? इस के लिये ये दो उपाय है एक यह है कि "क्रत्वा" कर्म वा विज्ञान द्वारा वह भगवान् प्रकट होता है। और कर्मयोगी उन्हें अपने अन्दर प्रकट करते हैं। दूसरा उपाय यह बताया है कि मनुष्य तीव्र

से तीव्र तम गति से चलने वाले स्तुति रूपी घोड़े भगवान् के पास भेजें, जिन पर कि वह आरूढ़ होकर भक्त के सामने आ पहुंचे । अग्नि रहित सामान्य स्तुति भगवान् की प्राप्ति में सहायक नहीं है । इस प्रकार मन्त्रो मे यह बताया गया है कि अध्यापकों और उपदेशकों को भगवान् का साक्षात्कार करना चाहिये । जिससे कि "यस्मिन् विदिते सर्व विदितं भवति" भगवान् को जान लेने पर सब प्रकार का ज्ञान विज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाये और वे प्रजा की ज्ञान-विज्ञान द्वारा भली प्रकार रक्षा आदि कर सके । अब हम मन्त्रों का भाष्य आर्य जनता व आर्य विद्वानों के सामने समालोचनार्थ व विचारार्थ रखते है । यदि आर्य जनता व विद्वानों को यह समझ मे आ जाये कि आर्य समाज का चारों वेदों पर कोई प्रामाणिक भाष्य हो तो उन्हें इस ओर प्रयत्न करना चाहिये । इसी प्रेरणा के लिये मैंने यह प्रयत्न किया है । इसमें त्रुटि बहुत हो सकती है, परन्तु यदि इससे चारों वेदों का पूर्ण प्रामाणिक भाष्य करने की प्रेरणा

मिल जाय तो हम यह समझेंगे कि हमारा काम हो गया।

पुनस्तौ कीदृशौ भवेतामित्याह

फिर वे दोनो कैसे हों इस विषय को कहते हों —

प्रोरो मित्रावरुणा पृथिव्या. प्रदिव ऋष्वा-द्बृहतः सुदानू। स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥ ३ ॥

पदपाठः—प्र। उरोः। मित्रावरुणा। पृथि-व्याः। प्र। दिवः। ऋष्वात्। बृहतः। सुदानू इति सुऽदानू। स्पशः। दधाथे इति। ओषधीषु। विक्षु। ऋधक्। यतः। अनिऽमिषम्। रक्षमाणा ॥ ३ ॥

पदार्थ—(प्र) (उरोः) विस्तीर्णायाः (मित्रा-वरुणौ) प्राणोदानाविवाध्यापकोपदेशकौ युवां (पृ-थिव्याः) भूमेः (प्रदिवः) प्रकृष्टद्युतिमतः द्युलोकात् (ऋष्वात्) श्रेष्ठात् (बृहतः) महतः (सुदानू) सुष्ठु दातारौ (स्पशः) स्पर्शवतः विज्ञाननियमान्

(दधाथे) धरथः (ओषधीषु) (विक्षु) प्रजासु (ऋधग्) समृद्धि (यतः) यस्मात् (अनिमिषं) अहर्निशं (रक्षमाणा) रक्षां कुर्वन्तौ ।

अन्वयः---हे मित्रावरुणौ ! सुदानू युवां उरोः पृथिव्याः ऋष्वात् बृहतः प्रदिवः स्पशः दधाथे । यतः ओषधीषु विक्षु अनिमिषं ऋधग् रक्षमाणा युवां सततं सेवितव्यौ ॥३॥

भावार्थः---हे जनाः । अन्नादिषु प्रजासु च समृद्धि कामयमानै र्भवद्भिर्विदुषां संगतिर्विधेया ॥३॥

पदार्थ---हे (मित्रावरुणा) प्राण और उदान वायु के समान कार्य करने वाले अध्यापक और उपदेशक जनों ! तुम दोनों (सुदानू) शोभन दान वाले (उरोः) विस्तृत (पृथिव्याः) पृथिवी से तथा (ऋष्वात्) श्रेष्ठ (बृहतः) महान् (प्रदिवः) सूर्य चन्द्रादि द्वारा प्रकाशमान द्युलोक से (स्पशः) स्पर्श करने वाले विज्ञान के नियमों को (दधाथे) धारण करते हो (यतः) जिससे (ओषधीषु) ओषधियों मे (विक्षु) प्रजाओं में (अनिमिषं) रात दिन (ऋधग्) समृद्धि को (रक्षमाणा)

रक्षा करते हुये तुम दोनों मनुष्यों से सेवन करने योग्य हो ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! अन्नों तथा प्रजाओं में समृद्धि की कामना करने वाले तुम को विद्वानों की संगति करनी चाहिये ॥३॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह

फिर मनुष्य क्या करें इस विषय को कहते हैं—

शसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा । अयन्मासा अयज्वनामवीराः प्र यज्ञमन्मा वृजन तिराते ॥ ४ ॥

पदपाठ.—शंस । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम । शुष्म. । रोदसी इति । बद्बधे । महिऽत्वा । अयन् । मासाः । अयज्वनाम् । अवीराः । प्र । यज्ञऽमन्मा । वृजनम् । तिराते । ४ ।

पदार्थः—(शंस) प्रशंस (मित्रस्य) अध्यापकस्य (वरुणस्य) उपदेशकस्य (धाम) पदम्

(शुष्मः) विज्ञानबलम् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (बद्बधे) बध्नाति (महित्वा) महिम्ना (अयन्) यन्ति (मासाः) चैत्राद्याः (अयज्वनाम्) यज्ञविरोधिनां (अवीराः) वीरतारहिताः (प्र) (यज्ञमन्मा) यज्ञस्य विज्ञानं (वृजनं) वर्जन्ति दुःखानि येन तद्बलम् (प्रतिराते) प्रवर्धयति ॥४॥

अन्वय :—हे जन ! त्वं मित्रस्य वरुणस्य च धाम प्रशंस । यस्य शुष्मः महित्वा रोदसी बद्बधे । अयज्वनां मासाः अवीरा अयन् । यज्ञमन्मा वृजनं प्रतिराते ॥४॥

भावार्थ :—ये मनुष्याः विदुषां विज्ञानबलं विज्ञाय श्रद्धया यज्ञादिकमाचरन्ति ते बलिनो भूत्वा दुःखान्यतितरन्ति ॥४॥

पदार्थ :—हे मनुष्य ! तू (मित्रस्य) अध्यापक (वरुणस्य) और उपदेशक के (धाम) पद को (शंस) प्रशंसा कर । क्योंकि उस पद का (शुष्मः) विज्ञान बल (महित्वा) अपने प्रभाव से (रोदसी) द्यावापृथिवी को (बद्बधे) बांध देता है । (अयज्वनां) मित्र और वरुण के यज्ञ के विरोधी पुरुषों के (मासाः) चैत्रादि मास (अवीराः) वीरतारहित (अयन्)

व्यतीत होते हैं। क्योंकि (यज्ञमन्मा) यज्ञ का विज्ञान (वृजनं) जिससे दुःख दूर करते हैं उस बल को (प्रतिराते) बढ़ाता है ॥४॥

भावार्थ :—जो मनुष्य विद्वानों के विज्ञान बल को जान कर श्रद्धा से यज्ञादि करते हैं वे बलवान् होकर दुःखों को तर जाते हैं।

पुनस्तेषां क्रिया कीदृश्यो भवन्तीत्याह।

फिर उनकी क्रियाएं कैसी होती हैं इस विषय को कहते हैं—

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु
चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां
निण्यान्यचिते अभूवन्। ५।

पदपाठः- अमूरा। विश्वा। वृषणौ। इमाः। वाम्। न। यासु। चित्रम्। ददृशे। न। यक्षम्। द्रुहः। सचन्ते। अनृता। जनानाम्। न। वाम्। निण्यानि। अचिते। अभूवन्। ५

पदार्थ :—(अमूरा) अमूढौ (विश्वा) सर्व-

ज्ञानसम्पन्नौ (वृषणौ) विद्यावर्षकौ (इमाः) ऊर्ध्वोक्ताः क्रियाः (वां) युवयोः (न) (यासु) क्रियासु (चित्रं) अद्भुतं विज्ञानबलं (ददृशे) दृश्यते (न) (यक्षं) संगतं (द्रुहः) द्रोग्धारः (सचन्ते) सेवन्ते (अनृता) पापानि (जनानां) मनुष्याणां (न) (वां) (निण्यानि) अन्तर्गतानि विज्ञानानि (अचिते) अज्ञानाय (अभूवन्) भवन्ति।

अन्वय :—हे वृषणौ, अमूरौ विश्वौ स्तः, वां इमाः (क्रियाः) यासु न चित्रं न यक्षं ददृशे (ताः द्रोग्धॄणां जनानां सन्ति) जनानां द्रुहः अनृता सचन्ते। वां निण्यानि अचिते न अभूवन्।

भावार्थ :—हे मनुष्याः! द्रोहपूर्णं व्यवहारं परिहाय विदुषां ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यमयी क्रिया भवद्भिरनुसर्तव्या। यतः ज्ञानिनो भूत्वा परमं सुखमवाप्नुयुः।

पदार्थ :—(वृषणौ) विद्या की वर्षा करने वाले हे अध्यापक और उपदेशक लोगों! तुम मूढ़तारहित हो और सर्वज्ञान सम्पन्न हो (वां) तुम दोनों की (इमाः) उपर्युक्त मन्त्रों में वर्णित क्रियायें है और (यासु) जिन क्रियाओं में (न चित्रं)

न कोई अद्भुत रहस्यमय विज्ञान बल है और (न यक्षं) न कोई संगति है ऐसी क्रियाये द्रोह करने वालों की होती है । (जनानां द्रुहः) मनुष्यों से द्रोह करने वाले (अनृता सचन्ते) अनृत रूप पापों का सेवन करते है । हे अध्यापक और उपदेशकों ! (वां) तुम दोनों के (निण्यानि) हृदय में अन्तर्निहित विज्ञान की बाते (अचिते) अज्ञान के लिये (न अभूवन्) नही होतीं । अर्थात् वे प्रजाओं मे ज्ञान का प्रचार करते है ।

भावार्थ :—हे मनुष्यों ! परस्पर के द्रोहपूर्ण व्यवहारों का परित्याग कर विद्वानों की ज्ञान-विज्ञान वाली क्रियाओं का तुम्हे अनुसरण करना चाहिये जिससे ज्ञानी बनकर परम सुख लाभ कर सको ।

पुनर्मनुष्यै. किं कर्तव्यमित्याह

फिर मनुष्यो को क्या करना चाहिये इस बात को कहते है ।

समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां
मित्रावरुणा सबाधः ।

प्रवा मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि
ब्रह्म जुजुषन्निमानि । ६ ।

पदपाठः—सम् । ऊँ इति । वाम् । यज्ञम् । महयम् । नमःभि । हुवे । वाम् । मित्रावरुणा । सबाध. । प्र । वाम् । मन्मानि । ऋचसे । नवानि । कृतानि । ब्रह्म । जुजुषन् । इमानि । ६ ।

पदार्थ :—(सम्उ) सम्यक्तया (वां) युवयोः (यज्ञं) (महयम्) पूजयामि । (नमोभिः) स्तुतिभिः (हुवे) आह्वयामि । (वां) युवां (मित्रावरुणा) अध्यापकोपदेशकौ (सबाधः) बाधेन सह वर्तमानः (प्र) (वां) (मन्मानि) विज्ञानानि (ऋचसे) प्रशसिताय कर्मणे (नवानि) नूतनानि (कृतानि) (ब्रह्म जुजुषन्) ब्रह्म सम्बन्धीनि ।

अन्वय :—हे मित्रावरुणा ! वां यज्ञं नमोभिः समु महयम् । सबाधोऽहं वां हुवे । वां ऋचसे कृतानि इमानि नवानि मन्मानि ब्रह्म जुजुषन् ।

भावार्थ :—ये मनुष्याः तयोर्यज्ञं पूज्यबुद्धया

स्वीकुर्वन्ति । ते ब्रह्म सम्बन्धीनि नूतनज्ञानानि प्राप्नुवन्ति ।

पदार्थ --(मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशकों ! (वां) तुम्हारे (यज्ञं) यज्ञ को मैं (समु महयम्) सम्यक् प्रकार से पूजा करता हूं । और (सबाधः) बाधायुक्त अर्थात् पीड़ित मैं (वां) तुम्हे (हुवे) रक्षार्थ आह्वान करता हू (वां) तुम्हारे (ऋचसे) प्रशंसित कर्म के लिये (कृतानि) किये गये (इमानि) ये (नवानि) नये (मन्मानि) विज्ञान व आविष्कार (ब्रह्मजुजुषन्) ब्रह्म सम्बन्धी हैं ।

भावार्थ :--जो मनुष्य उन दोनों के यज्ञ को पूज्यबुद्धि से स्वीकार कर उस पर आचरण करते हैं वे ब्रह्म सम्बन्धी नवीन ज्ञान को प्राप्त करते है ।

ऋषित्व प्राप्ति के कुछ साधन

अग्नि, इन्द्र, सोम व वरुण आदि देवताओं से मनुष्य को ऋषित्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इस पर हमने विस्तार से विचार किया है जो कि फिर कभी पुस्तक रूप में पाठकों के समक्ष रक्खा जायेगा। अब हम संक्षेप मे ऋषित्व प्राप्ति के कुछ अन्य साधन यहां प्रस्तुत करते है :—

दक्षिणा से ऋषित्व प्राप्ति

ऋ० १०।१०७।६ का मन्त्र है जो ऋषित्व प्राप्ति पर अच्छा प्रकाश डालता है। वह इस प्रकार है—

> तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणाया रराध। ऋ०१०।१०७।६

उसी को ऋषि, उसी को ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण कहते हे, उसी को अध्वर्यु और उसी को उक्थादि सामों का गान करने वाला सामगायक कहा जाता है। और वही व्यक्ति शुक्र अर्थात् वीर्य से

उत्पन्न होने वाले तीनों शरीरों (सात्विक, राजस, तामस) को जानता है जो कि प्रमुख रूप से दक्षिणा को सिद्धि का आधार बनाता है।

दक्षिणा, दान, आत्मदान व आत्मसमर्पण ये सब एक ही भाव के द्योतक हैं। जिस प्रकार द्रव्य-यज्ञो में भौतिक दक्षिणा ऋत्विजों को प्रदान की जाती है, उसी प्रकार आत्मिक यज्ञ में आन्तरिक दक्षिणाएं प्रदान की जाती हैं। सर्वश्रेष्ठ दक्षिणा वही है जिसमें अपने सम्पूर्ण अंग, प्रत्यंग व उनकी कामनाएं तथा आत्मा तक दक्षिणारूप में देवों को सौंप दिया जाये। अतः भगवान् को आत्मार्पण करनेवाला व्यक्ति ही ऋषि बनता है।

मातृशक्ति द्वारा ऋषित्व प्राप्ति

संसार रूपी राष्ट्र को धारण करने वाली सर्व जगत् निर्मात्री मातृशक्ति भी ऋषित्व को प्रदान करने वाली है। मन्त्र इस प्रकार है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं
तं सुमेधाम्। ऋ० १०।१२५।५

देवों और मनुष्यों द्वारा सेवित उस श्रद्धायुक्त वचन (श्रद्धिवं) को उन द्वारा मैं ही बोल रही होती हूं। जिसको मैं चाहती हूं उसे उग्र बना देती हूं, जिसे चाहती हूं उसे ब्रह्मा, उसे ऋषि और उसे सुमेधा बना देती हूं।

इस मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि ऋषि बनाना जगन्माता के अपने हाथ में है। यही भाव उपनिषदों में भी उपबृंहित हुआ है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' अर्थात् जिसे भगवान् चाहते हैं वही भगवान् को प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भगवान् व जगन्माता निरंकुश व स्वेच्छाचारी प्रशासक हैं। नहीं, वे तो दयालु हैं। इससे पूर्व मन्त्र में स्पष्ट किया है कि जो उसे मानते हैं, उस पर श्रद्धा रखते हैं, उस पर सर्वस्व निछावर कर देते हैं, वे ही माता की असीम कृपा पाते हैं। उसे न मानने वाले विनष्ट हो जाते हैं (अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति) इस प्रकार जगन्माता की कृपा से ऋषि बनते हैं।

काव्य से ऋषित्व प्राप्ति

ऋ० ८।७६।१ में आता है कि 'ऋर्षिविप्रः काव्येन' अर्थात् काव्य से विप्र ऋषि बनता है। विप्रों मे सर्वोत्कृष्ट स्थान ऋषि का है। इसीलिये कहा है कि 'ऋर्षिविप्राणाम्' अर्थात् यह सोम विप्रों में ऋषि बनता है। विप्रों मे सोम का सर्वोत्कृष्ट रूप ऋषि बनना है। और यह सोम भी ऋषित्व को उस समय प्राप्त होता है जब कि उसमें काव्य अर्थात् क्रान्त-दर्शिता व अतीन्द्रियार्थ दर्शित्व उत्पन्न हो जाता है। काव्य वेद को भी कहते हें। अतः वेद भी परोक्ष व सूक्ष्म दिव्य तत्वों का पिटारा है। इसलिये शंकराचार्य ने कहा है कि--

> चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयमर्थं शक्नोत्यवगमयितुमिति। शां०भा० १।२

इससे यह स्पष्ट है कि वेद का असली ज्ञान दिव्यता, सूक्ष्मता व ऋषित्व की प्राप्ति पर ही संभव है। विप्र ऋषि के संबन्ध में एक मन्त्र है जो कि उसके स्वरूप व शक्तियों को स्पष्ट कर रहा है। वह इस प्रकार है--

ऋषि विप्रः पुर एता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन । स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् । ऋ०९।८७।३ ।

अर्थात् विप्र ऋषि मनुष्यों का अग्रणी होता है। ऋत से देदीप्यमान (ऋभु-ऋतेन-भाति) धीर, कान्तिमान काव्य के कारण सर्वजनप्रिय (उशना काव्येन) वह ऋषि क्रान्तदृष्टि की सहायता से या वेद से (काव्येन) दिव्य प्रकाशों के पिहित (अपीच्यं) प्रच्छन्न व गुह्य नामों को अथवा गुह्य स्वरूप को जानता है ।

तप से ऋषित्व प्राप्ति

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य एक स्वर से इस तथ्य को उद्घोषित कर रहा है कि ऋषि तपस्या से उत्पन्न होते हैं । वेद का एक मन्त्र है——

ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् । अथ. ११।१।२६ ।

अर्थात् ऋषि और आर्षेय दोनों तप से उत्पन्न होते हैं ।

ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजां अभिगच्छतात् ।

अथर्व. १८।२।१५ ।

हे यमाधिष्ठित पुरुष ! तू तप से उत्पन्न व तपस्या करते हुये ऋषियों के पास पहुंच।

इसी प्रकार अन्य वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है, जहां कि ऋषियों का तप से विशिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। अब विचारणीय यह है कि तप क्या है ? क्या शरीर को सुखाना, सर्दी गर्मी की परवाह न करना, अनेक कष्ट देना, भूखा रखना व उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न करना तप है ? शास्त्रों की दृष्टि में यह तप नहीं है, पर साधारण जन इसे ही तप मानते हैं। गीता में इसे आसुरी तप माना है (अ. १७।५, ६)गीता के १७ वें अध्याय में तप पर अत्युत्तम प्रकाश डाला है। मनुमहाराज कहते हैं कि ब्राह्मण का तप ज्ञानोपलब्धि है। क्षत्रिय का तप रक्षा है, वैश्य का तप वार्ता, व्यवसाय है और शूद्र का तप सेवा करना है (मनु. ११।२३५)। ऋषि लोग अपने आप को संयम में रखकर फल, मूल और वायु का भक्षण कर तप के प्रभाव से चराचर सहित त्रैलोक्य को देख लेते हैं (मनु. ११।२३६) उसी प्रकार ऋषि लोग वेदों को भी तप के प्रभाव से प्राप्त

कर लेते है (मनु. ११।२४३) । ब्राह्मण के लिये स्वाध्याय ही तप है । ऋषित्व की प्राप्ति में स्वाध्याय के साथ 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैवाग्र्यं परमं तपः' मन और इन्द्रियों को एकाग्र करना भी अभीष्ट होता है । यह भी एक परम तप माना है । और ज्ञानप्राप्ति का यही सर्वोत्तम साधन है । स्वाध्याय ही परम तप है इसकी प्रशंसा शतपथ ब्राह्मण मे यहां तक आती है कि—

> अप्यभ्यक्तः । अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीत आहैव नखाग्रेभ्यस्तप्यते ।
>
> श०प०११।५।७।४

तेल आदि चुपड़े हुये, आभूषणों से अलंकृत, मधुर भोजन से तृप्त अथवा सुखशैया मे सोते हुये भी यदि स्वाध्याय करता है तो वह नख के अग्र भाग तक तपता है ।

एक मन्त्र आता है जिसमें यह कहा गया है कि ऋषियों के तप के प्रभाव से राष्ट्र में बल और ओज पैदा हो जाता है । वह मन्त्र इस प्रकार है—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु । अथर्व०१९।४१।१

मुक्ति, स्वर्ग व दिव्य आनन्द के ज्ञाता ऋषि लोग सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणिमात्र के कल्याण की कामना से तप और यज्ञ दीक्षा को प्राप्त हुये थे। इससे राष्ट्र निर्भय व उसमे बल व ओज पैदा हो गया। उसी प्रकार देव इस राष्ट्र में भी बल व ओज प्राप्त करावें।

इस प्रकार इस मन्त्र में यह स्पष्ट निर्देश हुआ है कि ऋषियों के तप व यज्ञ-दीक्षा के प्रभाव से राष्ट्र का निर्माण होता है और उसमे बल व ओज पैदा हो जाते है।

ऋषित्व में स्तुति

ऋषि निर्माण मे स्तुति का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। अन्य सब साधनों का अवलम्बन करते हुये भी ऋषि स्तुति का सेवन निरन्तर करते है। वेद में ऋषियों का मनुष्यों से पार्थक्य स्तुती से भी बताया है। वहां आता है—

ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्।

ऋ० १।८४।२।

अर्थात् वह इन्द्र ऋषियों की स्तुति द्वारा और

मनुष्यों के यज्ञों द्वारा पकड़ में आता है।

इस मन्त्र में ऋषियों और मनुष्यों में क्या विभेद हो सकता है वह स्पष्ट हो जाता है। और भी कई विभेदक तथ्य हैं जो कि हमें मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं। इस उपर्युक्त मन्त्र का यह भाव नहीं समझना चाहिये कि ऋषि यज्ञ नहीं करते कराते थे। परन्तु मन्त्र की यह ध्वनि प्रतीत होती है कि अभीष्ट सिद्धि में मनुष्यों के पास प्रमुख रूप से यज्ञ ही साधन है। मनुष्य यज्ञ द्वारा जो कुछ प्राप्त कर सकता है, वह सब और उससे भी अधिक ऋषि लोग संकल्प व स्तुति से प्राप्त कर लेते थे। स्तुति से ऋषि तक बन जाते हैं जिस व्यक्ति की ऋभु लोग रक्षा करते हैं या ऋत से प्रदीप्त शक्तियां जिस व्यक्ति में प्रविष्ट होती हैं, वही स्तुति करने वाला ऋषि बन जाता है। (स ऋषिर्वचस्यया स्तोत्रेण ऋ० ४।३६।६) ऋषित्व का निर्माण करने वाली स्तुति का स्वरूप क्या होना चाहिये इसका कुछ कुछ आभास हमें निम्न वाक्य से हो जाता है। वह यह है 'ऋषिर्न स्तुभ्वा' ऋ०१।३६।२१। वह अग्नि स्तुति गान करने वाले ऋषि की तरह है।

'स्तुभ्वा' स्तोभ से बना है। स्तोभ स्तम्भन को कहते है। इससे अर्चना व स्तुति भी वही ग्रहण की जायेगी जो कि मनुष्य के चित्त को थामे रक्खे। प्रायः मनुष्यों का मन स्तुति करते हुये इधर-उधर दौड़ता रहता है पर ऋषियों का नहीं। इसी प्रकार ऋषियो की स्तुति के सम्बन्ध मे अनेक मंत्र वेदो मे आते है जिनमे कुछ मन्त्र हमने अग्नि, इन्द्र आदि देवों पर लिखते हुये आगे दिखाये है।

स्तुति किसको?

अब प्रश्न यह आता है कि ऋषित्व प्राप्ति के लिये हम किसको स्तुति करें? इसके निर्णय के लिये हमे यह देखना चाहिये कि पूर्व ऋषि किसकी स्तुति किया करते थे? वेदों मे भी अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ आदि विविध देव रूपों की आवश्यकतानुसार विकास-क्रम को ध्यान मे रखते हुये स्तुति का विधान हुआ है। परन्तु वेद में एक आध मन्त्र हमें ऐसा भी दृष्टिगोचर होता है जिससे यह ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि ऋषित्व की प्राप्ति के लिये भगवान की स्तुति करना आवश्यक नहीं है।

भगवान् की स्तुति न करके अन्य यौगिक साधनों द्वारा भी ऋषित्व को प्राप्त किया जा सकता है। वह मन्त्र इस प्रकार है--

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः।
ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः। ऋ. ८।६।१२

उपर्युक्त मन्त्र के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ तो सामान्य है जो कि भगवान् को मानने वाले भगवद्भक्तों को युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है--

हे इन्द्र! (ये त्वां न तुष्टुवुः) जो मनुष्य तेरी स्तुति नहीं करते (ये च ऋषयः तुष्टुवुः) और जो ऋषि तेरी स्तुति करते हैं। परन्तु एक दूसरा अर्थ भी है जिसको प्रमान्य करना अति कठिन है, और वह इस भांति हो सकता है। हे इन्द्र! (ये ऋषयः त्वां न तुष्टुवुः) जिन ऋषियों ने तेरी स्तुति नही की (ये च तुष्टुवुः) और जिन ऋषियों ने तेरी स्तुति की।

इस मन्त्र के उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करने वाले विद्वानों का यह कथन हो सकता है कि भगवान् बुद्ध ने अपनी योग सिद्धि में भगवान् की स्तुति को

स्थान नहीं दिया। ऐसे विद्वानो के मत में दोनों प्रकार से ऋषि बना जा सकता है। भगवान् की स्तुति द्वारा भी और अन्य यौगिक साधनों द्वारा भी।

मेधा द्वारा ऋषित्व

उत्कृष्ट मेधाशक्ति भी ऋषित्व को प्रदान करने वाली है। तै०आ० १०।३९ में आता है कि 'त्वया जुष्ट ऋषिर्भवति देवि।' हे मेधा देवि! तुझको सेवन करने वाला व्यक्ति ऋषि बन जाता है। जिन ऋषियों को मेधा बहुत प्यारी होती है उन्हें 'प्रियमेधा' नाम से वेदों में कहा गया है। मेधाप्राप्ति के अनेक मन्त्र वेद में आते है। कण्वों में एक ऋषि मेधातिथि भी है इसकी मेधा में अतिथि आते है। इस ऋषि पर हमने कण्ववंशी ऋषियों पर विचार करते हुये पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार मेधा द्वारा भी ऋषित्व की प्राप्ति होती है।

—o—

श्रद्धा की आराधना

ऋषि--श्रद्धा कामायनी । देवता--श्रद्धा ।
छन्द--अनुष्टुप् । ऋ० १० म० १५१ सू०

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।।१।।

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः समिध्यते) अग्नि प्रदीप्त की जाती है (श्रद्धया) श्रद्धा से (हविः हूयते) यज्ञ मे आहुति दी जाती है (श्रद्धां) श्रद्धा को हम (वचसा) ज्ञान व वाणी द्वारा (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्य के शिखर पर (वेदयामसि) पहुंचाते है ।

भावार्थ--इस मन्त्र में निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है ।

१. श्रद्धा से अग्नि-समिन्धन ।
२. श्रद्धा से हवि-प्रदान ।
३. श्रद्धा से उच्च कोटि के ऐश्वर्य की प्राप्ति ।
४. उपर्युक्त बातों का वेदवाणी द्वारा प्रकटन ।

मनुष्य मे अग्नि का समिन्धन व उद्दीपन

श्रद्धा बल से ही होता है। भगवान् जब सृष्टि यज्ञ रचने लगा तब श्रुति की सर्वप्रथम ऋचा 'अग्निमीडे पुरोहितं०' द्वारा उसने अग्नि का सब से पहले स्मरण किया, और उसे पुरोहित (पुरः हितम्= आगे रखना या सब से पूर्व ला रखना) पद पर प्रतिष्ठित किया। भगवान् में तो स्वाभाविकी श्रद्धा है। इसलिये अग्नि की प्रदीप्ति के लिये उसे श्रद्धा की आवश्यकता न थी। पर हमें तो स्वात्म यज्ञ व अन्य कोई भी यज्ञ रचने के लिये अग्नि से भी पूर्व श्रद्धा का आह्वान करना पड़ेगा तभी अग्नि का समिन्धन व प्रज्वलन हो सकेगा।

श्रद्धा का अर्थ है "श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा" सत्यता को धारण करने वाली श्रद्धा वही कहलाती है जिस में सत्यता का अंश हो। श्रद्धा भक्तिमय अवस्था की एक भावना है जिस भक्तिमय भावना मे सत्यता का अंश न होगा, वह श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा, झूठी श्रद्धा, तथा वास्तविक ध्येय से दूर ले जाने वाली होगी। हम जिस चीज को सत्य समझते हैं उसी की हम अपने मन-मन्दिर मे पूजा करते हैं और उसके लिये सर्वस्व तक की आहुति देने के लिये

तैयार हो जाते हैं। परन्तु वास्तविक सत्य क्या है ? इसका निर्णय हम अपनी स्वल्प तथा सीमित बुद्धि से नहीं कर सकते वह तो हमें प्रभु की वाणी वेद द्वारा ही पता चलेगा। यह प्रभु का संदेश है, यह उसकी वाणी है कि हे जीव "श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त होती है" जिस चीज की हम कामना करते है, पहले उस चीज को सत्यता की कसौटी पर कस कर उसके प्रति श्रद्धा पैदा करे, इस प्रकार जब हमारे मन के साथ श्रद्धा का सम्पर्क होगा तो उससे चिनगारी अर्थात् संकल्पाग्नि आविर्भूत होगी। किसी भी कार्य को पूरा करने के लिये संकल्पाग्नि की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जितने भी उग्र रूप से हमारे अन्दर संकल्पाग्नि प्रदीप्त होगी उतना ही शीघ्र तथा सुचारू रूप से वह कार्य पूर्ण होगा। कोई भी कार्य हम करने लगे उसके लिये यह आवश्यक है कि हम संकल्पाग्नि को पैदा करे। यदि हम चाहते है कि हम वेदों के गूढ़ रहस्यो को समझने लगे तो हमे वेदो के प्रति श्रद्धा पैदा करनी होगी, तभी संकल्पाग्नि द्वारा हमारा कार्य सिद्ध हो सकेगा। यदि हम चाहते है कि गृहस्थ के बन्धनों मे न फंसे तो हमे वैराग्य की

उत्कट अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ेगी जिस से कि विषय वासना आदि नाष्ट् व आसुरीभाव हमारे अन्दर विकार न पैदा कर सके। इसी प्रकार जितनी भी अन्य अग्नियां है उन सब के प्रदीप्त होने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है जिस कार्य के प्रति हमारी श्रद्धा नहीं वहां संकल्पाग्नि के न होने से वह कार्य कभी भी सुचारु रूप से पूर्ण न हो सकेगा।

आगे मन्त्र मे कहा है कि "श्रद्धया हूयते हवि:" हवि भी श्रद्धा से दी जाती है। हवि शब्द का प्रयोग उच्च ध्येय क लिये दी गई आहुति के लिये आता है। यह श्रद्धा सब अहिंसामय अध्वरों की जननो है। सब यज्ञ इसी आधार पर पूर्ण होते है इसी के बल पर बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों तथा सन्त महात्माओं ने बड़े-बड़े यज्ञ रचे और उन में सर्वस्व तक की आहुति दे दी। इसी प्रकार साधारण मनुष्य भी जब कभी दिव्य भावनाओ से प्रेरित होता है तब तन, मन, धन अर्थात् सर्वस्व तक की आहुति दे देता है। मनुष्य मे समाज प्रेम, जाति प्रेम, देश प्रेम तथा प्राणीमात्र पर दया की भावना, ये सब बाते श्रद्धा पर ही आश्रित है। किसी चीज के प्रति श्रद्धा पैदा होने पर

मनुष्य को उस चीज के प्राप्त करने की इच्छा होती है। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये मनुष्य में संकल्पाग्नि प्रज्ज्वलित होती है और इस संकल्पाग्नि को प्रदीप्त रखने के लिये मनुष्य तन, मन, धन अर्थात् सर्वस्व तक की आहुति दे देता है। अपने उद्देश्य के लिये आहुति प्रदाता मनुष्य ही उच्च कोटि के ऐश्वर्य का उपभोग करता है। इसलिये वेद कहता है कि "श्रद्धां भगस्य मूर्धनि" हे मनुष्यों! श्रद्धाशील पुरुष ही सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। श्रद्धा ही धर्म की जननी है। श्रद्धा ही से सब कार्य निष्पन्न होते हैं। श्रद्धा के बिना जीवन रूखा तथा प्राण रहित होता है। अतः वेद कहता है कि अपने जीवन मे श्रद्धा को स्थान दो तभी उच्च कोटि के ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकोगे।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं मे उदितं कृधि ॥२॥

(श्रद्धे) हे श्रद्धा देवि! (ददतः प्रियं) देने वाले का तू प्रिय कर (दिदासतः प्रियं) दान की इच्छा वाले का भला कर (भोजेषु) भोजन देने वालों तथा (यज्वसु) यज्ञ करने वालों का (प्रियं)

प्रिय हो । और (मे इदं) मेरा यह प्रिय तू (उदितं कृधि) उदीयमान कर ।

दान देना सर्वोत्तम बात है । भय से दो, लज्जा से दो, चाहे किसी भी रूप में दो, परन्तु दो अवश्य । यदि श्रद्धा से दो तो सर्वोत्तम बात है । धन-दौलत व ऐश्वर्य न भी हो तो भी दान की भावना से भावित रहो । याद रक्खो उतना ही प्रिय होगा जितना देने से होता है । हे श्रद्धे ! तुझ से मेरी यह विनम्र विनती है कि भूखों प्यासों को भोजन देने वालों तथा यज्ञ करने वालों का जो प्रियाचरण तू करती है वह मेरा भी कर ।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥

(यथा) जिस प्रकार (देवाः) देवों ने (उग्रेषु असुरेषु) उग्र असुरों मे (श्रद्धां चक्रिरे) श्रद्धा पैदा की अथवा उन मे श्रद्धा की (एवं) उसी प्रकार ही हे श्रद्धे तू (अस्माकं) हमारे (भोजेषु यज्वसु) भोजन देने वालों तथा यज्ञ करने वालों में (उदितं कृधि) उस श्रद्धा को उदित कर ।

देवों में पक्षपात नहीं है । यदि उग्र कर्म करने

वाले असुरो में भी अपने उद्देश्य को पूर्ति के लिये श्रद्धा युक्त दृढ़ मनोबल है तो देवता भी उन में श्रद्धा रखते हैं और उन के सहायक बनते हैं; इस लिये आवश्यकता यह है कि हम मनुष्य भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्व प्रथम श्रद्धा पैदा करें और आसुरी दृढ़ता के साथ कार्य में जुट जायें, जिस से देव हमारे सहायक बनें।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

(वायुगोपाः) प्रजाओं मे वायुमण्डल के रक्षक अथवा प्राण साधना करने वाले (देवाः यजमानाः) दिव्य यजमान (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं और वे (हृदय्यया आकूत्या) हृदय के संकल्प बल से (श्रद्धां) श्रद्धा को बनाये रखते हैं क्योंकि (श्रद्धया वसु विन्दते) श्रद्धा से ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

प्रजाओं में श्रद्धा का वायुमण्डल अबाधित रूप में प्रवाहित रहे, यह दिव्य नेताओं की दिव्यता व उन की श्रद्धा पर आश्रित है। यदि उन में दिव्यता व श्रद्धा नहीं है तो प्रजाओं मे दिव्यता का संचार

नहीं हो सकता। श्रद्धा का वायु मण्डल हृदय के अटूट संकल्प बल पर निर्भर है। इसलिये राष्ट्र रूपी यज्ञ के यजमान दिव्य नेता यदि श्रद्धा युक्त दृढ़ मनोबल से नेतृत्व करेंगे तो ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी और कार्य में सफलता मिलेगी।

आओ ! हम सब मिलकर श्रद्धा का आह्वान करें।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

(श्रद्धां प्रातः हवामहे) श्रद्धा का हम प्रातःकाल आह्वान करते हैं। (श्रद्धां मध्यन्दिनं परि) मध्यान्ह काल में श्रद्धा का आह्वान करते हैं तथा (सूर्यस्य-निम्रुचि श्रद्धां) सूर्यास्त के समय में भी श्रद्धा की पुकार करते हैं। इसलिये (श्रद्धे) हे श्रद्धा देवि ! तू (इह) यहां इस यज्ञ में अथवा इस भूतल पर (नः) हमें (श्रद्धापय) श्रद्धायुक्त बना।

—०—

भगवान् की ओढ़नी

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते । यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनुविचाकशीति । तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति । उद्वेपय रोहित प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रतिमुञ्च पाशान् । अथर्व. १३।३।१

(यः) जिस परमात्मा ने (इमे द्यावापृथिवी) इन द्युलोक और भूलोक को (जजान) पैदा किया। और (यः) जो (द्रापिं) अपने आपको ओढ़नी (कृत्वा) बना कर (भुवनानि) सब लोकों को (वस्ते) आच्छादित कर रहा है। (यस्मिन्) जिस परमात्मा में (षट्) ये ६ (उर्वीः) विस्तृत (प्रदिशः) प्रकृष्ट दिशायें (क्षियन्ति) निवास करती हैं। (याः) जिन दिशाओं को (पतङ्गः) नित्य गतिशील सूर्य (अनुविचाकशीति) प्रकाशित करता है।

(यः) जो पुरुष (एवं) इस प्रकार सब के आधारभूत परमात्मा को जानने वाले (विद्वांस)

विद्वान् (ब्राह्मणं) ब्राह्मण का (जिनाति) विनाश करता है। (एतत्) यह (आगः) अपराध (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) देव परमात्मा के प्रति ही है।

हे (रोहित) सबको उन्नत करने वाले परमात्मन् (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती को (उद्वेपय) कंपा दे (प्रक्षिणीहि) उसका विनाश कर दे और उसको (पाशान्) फंदे डाल कर (प्रतिमुञ्च) बांध ले।

भावार्थ—इस मन्त्र मे परमात्मा रोहित शब्द से याद किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि हे रोहित जो दुर्जन मनुष्य तेरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान् भक्तों का विनाश करता है तू उस ब्रह्मघाती का विनाश कर।

रोहित शब्द रुह् धातु से बना है जिसका अर्थ है—उत्पन्न होना, बढ़ना, उन्नति करना इत्यादि। रोहित शब्द से पता चलता है कि परमात्मा को पैदा किया जाता है और उसको दिनों दिन बढ़ाया जा सकता है। पर यह उत्पत्ति और वृद्धि आलंकारिक है; भक्त मनुष्य उस परमात्मा का आह्वान करते है। जैसा कि इस मन्त्र के अन्दर परमेश्वर

का अग्नि स्वरूप से आह्वान किया गया है।
"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिषि।" (साम १ प्रपाठक १ मं०) और उसे हृदयासन पर बैठाया गया है। इसी को वेदों में परमात्मा का पैदा होना कहा गया है। वह भक्त-जनों के मनोमन्दिर में उत्पन्न होता है और वहीं वृद्धि को प्राप्त करता है। परमात्मा की उत्पत्ति एक दूसरे मन्त्र मे अच्छी तरह से स्पष्ट की गई है। "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत०' (साम १ प्रा० ८ म०) हे अग्ने अथर्वा—चञ्चलता रहित मनुष्य तुम को हृदयरूपी समुद्र मे मन्थन करके पैदा करते है। हृदयरूपी समुद्र मे उस अमृत स्वरूप परमात्मा का निवास स्थान है। वहीं से भक्तजन इस अमृत को पैदा करते है और उसकी वृद्धि करते है, यही अमृत-मन्थन है और यही परमात्मा की उत्पत्ति का साधन वेदों मे बताया गया है। इस लिये परमात्मा को इस मन्त्र मे रोहित शब्द से याद किया गया है। और यह निर्देश दिया है कि ब्राह्मणों को चाहिये कि वे अपने हृदयासन पर उस पूज्य देव को बैठावें। आगे मन्त्र में बताया गया है कि उस रोहित की महिमा कितनी

है । हे भगवन् ! तूने ही ये द्युलोक और भूलोक आदि लोक-लोकान्तर बनाये तू ही इन सब के अन्दर व्यापक है । और "ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि" हे अमृत स्वरूप परमात्मन् ओढ़नी भी तू है और "ओं अमृतापिधानमसि" बिछौना भी तू है । ये सारी दिशायें तेरे ही अन्दर मौजूद हैं । अर्थात् कोई भी ऐसी वस्तु नहीं कि जहां वह वस्तु हो और तू न हो । हे परमात्मन् ! तू सर्वव्यापक है तू सर्व द्रष्टा है तू सबका सहारा है भक्त जन तेरा सहारा ले कर इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठ कर तुझ तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं । परन्तु हे भगवन् ! हम साधारण मनुष्य इस तेरी महिमा को नहीं जानते और यदि कभी जान भी जाते हैं तो ये प्राकृतिक दृश्य तेरी महिमा को भुलवा देते हैं । हे भगवन्! हम अशक्त हैं हमें शक्ति प्रदान करो जिससे तेरी महिमा को जान सकें और तेरे प्रति प्रयाण कर सकें । हे भगवन् ! दूसरी प्रार्थना यह है कि ब्रह्मवेत्ता विद्वान् भक्त को जो किसी भी प्रकार से कष्ट पहुंचाता है वह तेरा शत्रु है । तू ऐसी परिस्थिति पैदा कर कि वे ब्रह्मघाती मनुष्य तेरे डर के मारे कांपने लगें उन्हें तेरी दुर्जन

विघातिनी शक्ति का भय हो। तू उन्हें इतना क्षीण कर कि वे अपने स्वार्थों को पूरा न कर सके और वे सदा के लिये नष्ट हो जाये। हे रोहित ! तू दुष्टों को अपने फंदे में फांसने वाला है। अतः जो मनुष्य ब्राह्मण की हिंसा करता है तू उस ब्रह्मघाती को अपने फंदे मे बांध ले। और ऐसा बांध कि वे फिर कभी सच्चे त्यागी ब्राह्मण की ओर आंख भी उठा कर न देख सकें।

व्रत-ग्रहण

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।।

यजु० १।५।।

(अग्ने) हे अग्रणी तथा प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (व्रतपते) हे व्रत के मालिक ! मैं (व्रतं) व्रत का (चरिष्यामि) आचरण करूंगा । हे सर्वशक्तिमान् मेरे मे ऐसी सामर्थ्य हो कि मैं (तत्) उस व्रत को (शकेयम्) पूरा कर सकूं (मे) मेरा (तत्) वह व्रत (राध्यताम्) सिद्ध होवे । वह मेरा व्रत यह है कि (अहं) मैं (अनृतात्) अनृत अर्थात् असत्य को छोड़ कर (इदं सत्यं) इस सत्य को (उपैमि) प्राप्त करता हूं ।

इस मन्त्र में निम्न बातें दर्शायी गई हैं ।

१. परमात्मा को अग्नि और व्रतपति के रूप में याद किया गया है ।

अग्नि=अग्रणी, नेता

=प्रकाश स्वरूप ।

२. व्रत ग्रहण का निश्चय ।
३. व्रत को पूर्ण करने के लिये परमात्मा से शक्ति की प्रार्थना ।
४. व्रत के सिद्ध होने में आशा तथा आत्म-विश्वास ।
५. अनृत का परित्याग ।
६. सत्य रूप व्रत का ग्रहण ।

भावार्थ—हे अग्ने ! अग्रणी, इस ब्रह्माण्ड का नेतृत्व करने वाले परमात्मन् ! तुम व्रतपति हो ! तुम अपने व्रतों का ठीक-ठीक पालन करते हो । परन्तु भगवन् ! मैं अल्पज्ञ जीव ! व्रत की महिमा को न समझता हुआ पतन की ओर चला जा रहा हूं । परमात्मन्, तुम प्रकाश-स्वरूप हो । अतः मेरे मनो-मन्दिर में प्रकाश करो जिससे कि मैं अन्धकार से दूर हो कर, आपके ज्ञान स्वरूप प्रकाश में निवास करता हुआ व्रतों का ठीक-ठीक चुनाव कर सकूं । मैंने बहुत से व्रत धारण किये, समय-समय पर उनमें परिवर्तन भी किये परन्तु उनमें से किसी को भी मैं निभा न सका ।

हे भगवन् ! मेरी इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल हो,

मेरा निश्चय इतना दृढ़ हो, और मेरे मे इतना उत्साह हो कि मैं अपने व्रत से विचलित न हो सकूं। किसी प्रकार का भी लोभ मुझे अपने व्रत से फिसला न सके। हे ज्योतिष्मन् ! मैं अपने व्रत से विचलित तभी होता हूं जब कि आपकी ज्योतिर्मय किरण दिखाई नहीं देती, उस समय मेरे मानसिक जगत् मे निराशा रूपी अन्धकार छाया रहता है, मुझे अपने व्रत के पूरा होने मे सन्देह होता है और मौका पाकर दुष्ट भाव मुझे अपने पथ से च्युत कर देते ह। अतः ऐसी शक्ति दो जिससे कि दुष्ट-भावों का मुझ पर असर न हो सके। हे प्रकाश-स्वरूप परमात्मन् ! आपको व्रतपति के रूप मे देखता हुआ मैं फिर व्रत धारण करता हूं, व्रतनिष्ठ आपको आदर्श मानता हुआ अपने व्रत पर अटल रहूंगा। और तुम भी अपने प्रकाश-स्वरूप नेतृत्व से मुझे ठीक रास्ता बताओ जिससे कि मैं उसका अनुसरण कर सकूं। अतः भगवन् आपसे प्रार्थना है कि ऐसी शक्ति प्रदान करो जिससे कि मैं अपने व्रत को निभाने मे समर्थ हो सकूं और मेरा व्रत-पूर्ण होवे।

वह मेरा व्रत यह है कि मैं आज से ही अनृत अर्थात् असत्य का परित्याग करता हूं और सत्य को स्वीकार करता हूं । मैं अपने जीवन में सदा सत्य का पालन करूंगा और असत्य को दूर भगाऊंगा । परन्तु हे अग्ने ! यह सत्य का रास्ता बड़ा विकट है, तलवार की धार पर दौड़ना है । हे भगवन् जिस व्यक्ति को तेरा नेतृत्व नहीं मिला, वह इस रास्ते पर न चल सका । क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी बादलों से आवृत मानसिक वृत्तियां सत्या-सत्य में विवेक नहीं कर सकतीं । इस संसार-सागर में तैरते हुये कई वार ऐसी अवस्था आ जाती है कि मनुष्य सत्यमार्ग को न जानकर असत्य की ओर चल पड़ता है, और उसे ही सत्य समझने लगता है । हे अग्रणी ! तब आपके नेतृत्व की आवश्यकता होती है । ज्ञान स्वरूप परमात्मन् इसी प्रकार जब मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हुआ-हुआ सत्या-सत्य में विवेक न कर सकूं तब आपका नेतृत्व मुझे प्राप्त हो । और आपके हाथ का सहारा लेकर मैं इस भवसागर से पार होऊं ।

हे भगवन् ! अभी तक मैं सोचता कुछ और हूं

बोलता कुछ हूं और करता कुछ और ही हूं। मेरे मन, वचन तथा कर्म में एकता नहीं। हे सर्व शक्तिमन् ! मुझे ऐसी शक्ति दो कि मेरे मन में सदा सत्य विचार ही पैदा हों, वाणी में भी सत्य हो और कर्म में भी सत्य हो। आज मुझे ज्योतिर्मय परमात्मा का नेतृत्व प्राप्त हुवा है और मेरे में आत्म-विश्वास पैदा हुआ है, मैं अवश्य ही असत्य का परित्याग कर सत्य का पालन करूंगा। दुनिया की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं जो मुझे सत्य के व्रत से विचलित कर सके।

—०—

विश्व प्रेम की झांकी

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् । सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहांध्र् ुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।

अथर्व० १२ का० १ सू०४५म०

अर्थ---(पृथिवी) यह पृथ्वीमाता (विवाचसं) विविध प्रकार की बोली वाले (नानाधर्माणम्) नाना प्रकार के धर्मो वाले (जनं) प्राणि मात्र को (यथौकसम्) एक घर की तरह (बहुधा बिभ्रती) बहुत रूपो मे धारण करती हुई (मे) मेरे लिये (द्रविणस्य) धन को (सहस्रं धारा) हजारो धाराये (दुहाम्) दोहन करे अर्थात् दे (इव) यथा (अनपस्फुरन्ती) बिना झुंझलाये (ध्र ुवाधेनुः) शांत और स्थिर गाय (देती है) ।

इस मन्त्र मे निम्न बाते दर्शायी गई है ---

१. विविध भाषा-भाषी तथा नाना धर्म वालो मे पारिवारिक दृष्टि ।

२. हजारो धाराओ में ऐश्वर्य का हमारी ओर बहना ।

३. पृथिवी का ध्रुवा धेनु होना ।

इस मन्त्र में 'विवाचसम्' 'नानाधर्माणम्' 'जनम्' और 'यथौकसम्' ये चार शब्द बहुत महत्व रखते हैं। और इस प्रकरण में 'जनम्' शब्द का अर्थ है, प्राणीमात्र, जो कि जन्म लेता है। इस प्राणि जगत् की वाणियों के भाषा शास्त्रियों ने दो विभाग किये हैं व्यक्त और अव्यक्त। पशु-पक्षियों की बोलियां अव्यक्त बोलियां कही जाती हैं और मनुष्यों की व्यक्त। इन पशु-पक्षियों की बोलियां अव्यक्त तो हैं, परन्तु तो भी इनकी अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट बोलियों से किसी अंश तक इनके हृद्गत अनुभव पता चल ही जाते हैं। इन पशु-पक्षियों की भी न जाने कितनी असंख्य बोलियां हैं। दूसरी मनुष्यों की व्यक्त अर्थात् स्पष्ट बोलियां हैं। मनुष्यों मे देश भेद से भाषाओं की भिन्नता तो होती ही है। परन्तु एक देश मे भी सैकड़ों भिन्न-भिन्न भाषायें पाई जाती हैं।

इस तरह से वेद में बताया गया है कि पृथ्वी पर विविध भाषाओं का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। दूसरा शब्द इस मन्त्र में आया है "नानाधर्माणम्" यहां धर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त

हुआ है। धर्म का अर्थ है प्रकृति अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अपना-अपना वास्तविक स्वभाव। केवल वाणी में ही यह विविधता नहीं अपितु प्राणी २ की प्रकृति मे भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ मनुष्य-समाज पर दृष्टि डाले तो पता चलेगा कि हर एक की रुचियों में भिन्नता है। किसी को मिष्टान्न प्यारा है तो किसी को कंदमूल फल ही प्यारे लगते है। किसी को ऊंचे-ऊंचे राजप्रासाद मोह लेते है तो किसी दूसरे को पर्वतों और नदियों के संगम पर बनी हुई तपोभूमियां ही आकर्षित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि "भिन्नरुचि हि लोकः" मनुष्यों की रुचियां भिन्न-भिन्न है। हर एक के अपने २ स्वभाव है। किसी को किसी चीज से शान्ति मिलती है तो किसी को किसी दूसरी चीज से। इस प्रकार अपने २ स्वभावों के अनुसार ही मनुष्यों ने धर्म के रूप में कुछ नियम धारण किये हुये है। इस लिये पृथ्वी पर नाना धर्मों का होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। वास्तव में विविधता ही इस प्रकृति का सौन्दर्य है। सृष्टि में यदि विविधता न हो तो सृष्टि अपनी स्थिरता न रख सके। परन्तु यह विवि-

धता होते हुये भी सारी सृष्टि मे एक सूत्र पिरोया गया है जो कि विविधता को समानरूपता और अनेकता को एकता में धारण किये हुये है। इसी तथ्य को बताने के लिये अगला शब्द है "यथौकसम्" अर्थात् एक घर की तरह। कैसा अत्युत्तम सार्वभौमिक बंधुत्व का एक आदर्श चित्र खींचा गया है। यह पृथिवी माता भिन्न २ बोलियों वाले, नानाधर्मों वाले प्राणिमात्र को पुत्र के समान अपनी गोदी में आश्रय दे रही है। इसीलिये मनुष्यों को यह उपदेश दिया गया है कि चाहे वे कोई सी बोली बोलने वाले हों, किसी भी धर्म को मानने वाले हों और चाहे किसी भी देश के रहने वाले हो आपस में भ्रातृत्व प्रेम से रहना चाहिये।

जिस प्रकार एक आदर्श परिवार में सब भाई बहिन परस्पर बड़े प्रेम से रहते है और एक दूसरे की उन्नति में सहायक होते है उसी प्रकार हम सब को भी इस पार्थिव परिवार मे प्रेम से रहना चाहिये। परमपिता परमात्मा भी मन्त्र में आये "यथौकसम्" द्वारा हमें यही उपदेश दे रहा है।

जब हम विविध भाषा-भाषी तथा नाना धर्मों वाले आपस मे भ्रातृभाव से रहेगे तभी हमारी सर्व प्रकार की उन्नति होगी।

ऐश्वर्य की सहस्रों धारायें

पृथिवी-पुत्रों के परस्पर भ्रातृभाव से रहने का शुभ परिणाम यह होता है कि ऐश्वर्य की सहस्रों धाराये एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की ओर प्रवाहित होती रहती है। मन्त्र मे ऐश्वर्य को द्रविण कहा है। 'द्रविण' और 'द्रव' (जल) ये दोनों शब्द प्रवाह को सूचित करने वाली 'द्रु गतौ' धातु से निष्पन्न हुए है। धन व ऐश्वर्य वही श्रेष्ठ है जो प्रवाहित होता रहे, एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक देश से दूसरे देश मे जाता रहे। जहां जिस वस्तु का अभाव है वहां पर वह वस्तु पहुंच जाया करे, वेद की दृष्टि मे तभी सच्ची पारिवारिक भावना समझी जायेगी। यह भूमि माता सोना, चांदी, लोहा आदि नाना भांति की धातुओं, नाना प्रकार के धनधान्यों, ओषधियों,

तथा वस्त्र सामग्रियों की सहस्रों धाराओं का निरन्तर स्थिरभाव से हम पुत्रों के लिये दोहन करती रहती है ।

'ध्रुवाधेनु'

इस भूमि को वेद ने 'ध्रुवाधेनु' कहा है। जिस प्रकार एक दुधारु, तथा उत्तम नस्ल की गौ स्नेह तथा वात्सल्य से दोग्धा के लिये दूध की धारायें प्रवाहित करती है उसी प्रकार यह मातृभूमि रूपी गौ परस्पर भाइयों की तरह प्रेमपूर्वक रहने वालों के प्रति ऐश्वर्य की सहस्रों धाराओं को प्रवाहित करती है ।

यदि सब देशों के निवासी परस्पर प्रेमपूर्वक भाई-भाई की तरह से नहीं रहेंगे तो यह मातृ-भूमि भी ऐश्वर्य प्रदान करने वाली न होगी। वेद की दृष्टि में अतिवृष्टि या अनावृष्टि का होना, दुर्भिक्ष का पड़ना तथा अन्य सब प्रकार के अभाव इस बात के परिणाम है कि हम परस्पर भ्रातृभाव से नहीं रहते । अतः वेद का सब

पृथिवी के निवासियों को यह उपदेश है कि वाणीभेद, धर्मभेद, जातिभेद तथा देशभेद होते हुए भी परस्पर प्रेमपूर्वक रहो, पारिवारिक भावना से व्यवहार करो तभी यह मातृभूमि रूपी गौ 'ध्रुवाधेनु' के समान ऐश्वर्य की सहस्रों धाराओं को हमारे प्रति प्रवाहित करने वाली होगी ।

सच्चा गृहस्थाश्रम

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायु र्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रै र्नप्तृभि र्मोदमानौ स्वे गृहे ॥
ऋ०१०।८५।४२ ।

शब्दार्थः—हे पति और पत्नी ! (इहैव) इसी घर मे (स्तं) बने रहो (मा वियौष्टं) एक दूसरे से अलग मत होवो (पुत्रैः) पुत्रों से (नप्तृभिः) पौत्रों से (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (स्वे गृहे) अपने इस घर में (मोदमानौ) सुख से रहते हुये (विश्वं आयुः) सम्पूर्ण आयु को (व्यश्नुतम्) व्यतीत करो ।

भावार्थः—इस मन्त्र मे निम्न बातें ध्यान देने योग्य है ।

१. यहीं रहो;
२. एक दूसरे से पृथक् न होओ ।
३. और पुत्र पौत्रों के साथ आनन्दपूर्वक आयु व्यतीत करो ।

आज गृहस्थ-जीवन प्रायः भार रूप प्रतीत होता है । गृहस्थियों में वह आनन्द दिखाई नहीं देता जो कि वास्तव में होना चाहिये । कारण

क्या ? इसका कारण यही है कि हम गृहस्थ में एक आश्रम की दृष्टि से प्रविष्ट नहीं होते। इस संसार सागर को तैरने के लिये गृहस्थ नौका के समान है। संसार-रूपी उत्तुंग पर्वत चोटी को लांघने के लिये गृहस्थ सर्वोत्तम साधन है। यदि हम गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को जानते हों और उन्हें यथाशक्ति पूरा करने की कोशिश करते हों तो गृहस्थ एक अद्वितीय सुख का साधन बन जाता है। वेद में जहां स्थान २ पर गृहस्थ के कर्तव्यों को दिखाया गया है, वहां इस मन्त्र के अन्दर भी गृहस्थी के लिये कुछ कर्तव्य बताये गये हैं, यदि गृहस्थी उन कर्तव्यों का पालन करेगा तो निश्चय से वह सुखी होगा। पहला कर्तव्य जिसकी ओर मन्त्र का निर्देश है वह है, इसी घर में ही मिलकर रहना। जिस घर में पति-पत्नी के अन्दर प्रेम नहीं, वहां वे मिलकर नहीं रह सकते। वे एक दूसरे से अलग होना चाहते हैं। एक दूसरे से घृणा पैदा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। जिस पति के अन्दर पत्नी के लिये अर्द्धाङ्गिनी भाव होता

है और जिस पत्नी के अन्दर पति के लिये स्वामी-भाव होता है वहां ही सच्चा सुख होता है। और वे एक-दूसरे से मिलकर रहना चाहते है। उनमे कभी लडाई नहीं होती। वे एक दूसरे से उकसाते नहीं। परन्तु जिस पति के अन्दर पत्नी के लिये अर्द्धाङ्गिनी-भाव नही, और जिस पत्नी के अन्दर पति के लिये स्वामी भाव नही वहां प्रेम नहीं हो सकता। बात-बात पर लड़ाई होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे एक-दूसरे से दूर रहने की कोशिश करते है। और जिन देशों मे तलाक की प्रथा है वहां तो इसका बहुत ही बुरा परिणाम देखा जाता है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। सुख प्रेम, और सम्मिलन के अन्दर ही मिल सकता है अलग होने मे सुख नही। और यदि हम चाहते है कि निरन्तर सुख हो तो हमे चाहिये कि हम प्रेमपूर्वक एक दूसरे के साथ रहे। प्रेम-पूर्वक एक-दूसरे के साथ मिल कर रहने का साधन यह है कि हम गृहस्थ को आश्रम की दृष्टि से देखे। विषयभोग का स्थान न समझें और धर्म को ऊंचा स्थान दें तो हम कभी भी एक-दूसरे से अलग

नहीं हो सकते । वेद की तो आज्ञा यह है कि "मा वियोष्टम्" हे पति पत्नी ! तुम कभी भी एक दूसरे से अलग मत होवो एक दूसरे को तलाक मत दो । जहां घर मे प्रेमपूर्वक मिलकर रहा जायेगा, वहां कभी घृणा, द्वेष, क्रोध, दुःख आदि का समावेश ही नहीं हो सकेगा और न ही कभी तलाक देने की अवस्था पैदा होगी, और उस घर में प्रेम, आनन्द, तथा सुख का राज्य होगा, तो स्वभावतः हमारी आयु बहुत विस्तृत होगी । केवल पुत्रों के साथ ही नहीं अपितु पौत्रों के साथ भी हम सुख से खेल सकेंगे । दीर्घ आयु प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन भी यही है कि हम प्रेम से रहे, एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से न देखे और पुत्र और पौत्रो के साथ खेलते हुये अपने कर्तव्यों का पालन करते जाये, तो गृहस्थ संसार-सागर से तारने वाला बन जाये और मनुष्य भी सुख से रहे । यही उपदेश इस मन्त्र मे दिया गया है ।

—o—

आन्तरिक दिव्य वाणी

पाप और पुण्य मे विवेक के लिये परमात्मा की ओर से मनुष्य को कई कसौटियां दी गई है उनमे एक कसौटी आन्तरिक दिव्यवाणी भी है । जब मनुष्य कोई पाप करने लगता है अथवा किसी भावावेश मे आकर कोई पाप कर बैठता है तब वह आन्तरिक दिव्यवाणी बोलती है और मनुष्य को पाप करने से रोकती है । जो मनुष्य उस वाणी को सुनकर पाप करने से विरत हो जाते है । वे प्रकृति की ओर से ली गई महान् से महान् परीक्षाओ मे भी उत्तीर्ण हो जाते है । परन्तु जो मनुष्य उस वाणी को नही सुनता और सुनकर भी अनसुना कर देता है, उस मे वह दिव्यवाणी बोलना बन्द कर देती है । ऐसे मनुष्य को जहां पहिले पाप करने मे संकोच होता तथा भय लगता था वहां अब वह निडर हो जाता है और बड़े से बड़ा जघन्य पाप भी कर बैठता है । इसी दिव्यवाणी के सम्बन्ध मे "जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण" २।५।१ मे एक आलंकारिक वर्णन दिया है वह हम पाठको के समक्ष स्पष्ट करने का प्रयत्न

करते हैं वह इस प्रकार है—

"देवा वै ब्रह्मणो वत्सेन वाचमदुह्रन् । अग्निर्ह्वै ब्रह्मणो वत्सः । सा या सा वाग् ब्रह्मैव तत् । अथ योऽग्निर्मृत्युः सः । तामेतां वाचं यथा धेनुं वत्सेनोपसृज्य प्रत्तां दुहीतैवमेव देवा वाचं सर्वान् कामान् अदुह्रन् । दुहे ह वै वाचं सर्वान् कामान् य एवं वेद । स हैषोऽनानृतो वाचं देवीमुदिन्धे वद वद वदंति । तद् यदिह पुरुषस्य पापं कृतं भवति तदाविष्करोति । यदिहैनदपि रहसीव कुर्वन्मन्यतेऽथ हैनदाविरेव करोति । तस्माद्वाव पापं न कुर्यात् ।"

अर्थात् देवों ने ब्रह्म के वत्स से वाणी का दोहन किया । प्रश्न होता है कि वह ब्रह्म का वत्स कौन है ? इसके लिये कहा कि "अग्नि हं ब्रह्मणो वत्सः" अर्थात् अग्नि ही ब्रह्म का वत्स है । आगे प्रश्न किया कि ब्रह्म क्या है ? इसके उत्तर में कहा कि "सा या सा वाग् ब्रह्मैव तत्" अर्थात् जो यह दैवी वाक् है यही ब्रह्म है । अग्नि के सम्बन्ध में अगले चरण में एक बात और कह दी कि "अथ योऽग्निर्मृत्युः सः" यह जो अग्नि है यह मृत्यु भी है । इस उपर्युक्त प्रकरण को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

माता (धेनु) वत्स
वाक् (ब्रह्म) अग्नि (मृत्यु)

हमारी जो आन्तरिक दिव्य वाणी है जो कि हमें समय-समय पर सचेत करती रहती है वह यहां ब्रह्म है। और जिस अग्नि के धारण करने से मनुष्य आलसियों की तरह बैठा नहीं रहता, अपने आदर्श के पीछे पागल हुआ सा फिरता है, और सब कामनाओं की पूर्ति कर लेता है, और पाप से परहेज रखता है, वह अग्नि यहां ब्रह्म का वत्स है, क्योंकि यह अग्नि आन्तरिक दिव्यवाणी से उत्पन्न होती है, इसलिये यह अग्नि वाक् का वत्स है। वाक् से ही यह उत्पन्न होती है और वाक् से सम्पर्क कर सब कामनाओं का दोहन करती है। मनुष्यों में यह अग्नि दो प्रकार से पैदा होती है। एक किसी प्रभावशाली दिव्य-शक्ति पुरुष के ओजस्वी वाक्यों से और दूसरे अपनी आन्तरिक दिव्य वाणी से। किसी सन्त महात्मा व ऋषि के अन्तरतम से निकले हुये ओजस्वी वाक्य मनुष्यों में अग्नि पैदा कर देते है। महर्षि दयानन्द श्री अरविन्द तथा महात्मा गान्धी की वाणी ने न जाने कितने मनुष्यों में अग्नि पैदा कर दी। परन्तु

हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि वह वाणी आन्तरिक हो, अन्दर की गुहा से निकली हुई हो, ऊपरी वाणी न हो। दिव्य पुरुषों की तो आन्तरिक वाणी ही बोलती है, इसलिये सर्वसाधारण मनुष्यों पर वह चमत्कारिक प्रभाव डाल देती है। सर्वसाधारण मनुष्य भी यदि आन्तरिक वाणी को सुनने का प्रयत्न करे और तदनुसार ही आचरण करे तो कालान्तर मे जाकर उनके अपने अन्दर भी अग्नि उद्बुद्ध हो सकती है। इस प्रकार यह अग्नि वाक् रूप ब्रह्म का वत्स है। क्योंकि मनुष्य की अन्तरतम हृदय गुहा मे आत्मा के अन्दर विराजमान परमात्मा की तरफ से यह प्रेरित होती है। इस दृष्टि से इसे ब्रह्म कहा है व ब्रह्म सम्बन्धी माना है। अब विचारणीय यह है कि अग्नि को जो 'मृत्यु' कहा है उसका क्या भाव है। जिस मनुष्य मे यह अग्नि पैदा हो जाती है वह उसके अब तक के व्यक्तित्व को समाप्त कर देती है। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने "कल्याण मार्ग का पथिक" मे जो अपने जीवन-चरित्र का परिचय दिया है, उसमें स्पष्ट रूप से दो पृथक् २ चित्र दिखाई देते है। उनके पूर्व जीवन

तथा उत्तर जीवन में महान् अन्तर है। पूर्व जीवन साधारण भोगवाद का जीवन है और उत्तर जीवन एक तपस्वी का जीवन है। यह भेद इसलिये है कि महर्षि दयानन्द की ओजस्वी वाणी से अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उनके सब दोष भस्म हो गये। पुराने मुन्शीराम मर गये व नये महात्मा मुन्शीराम की उत्पत्ति हुई। अग्नि का यही मृत्यु-रूप है।

अब प्रश्न होता है कि अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर क्या करे? इसके लिये आगे कहा है कि—

तामेतां वाचं यथा धेनुं वत्सनोपसृज्य प्रत्तां
दुहीतैवमेव देवा वाचं सर्वान् कामान् अदुह्रन्॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य परमात्मा की तरफ से प्रदत्त गौ के साथ बछड़े को लगाकर दूध दोह लिया करते हैं, उसी प्रकार देव पुरुषों ने इस आन्तरिक दिव्य वाणी के साथ उसके बछड़े अग्नि का सम्पर्क कराके सब कामनाओं का दोहन किया।

सन्त महात्माओं, ऋषि-मुनियों के उन्नति के मार्ग में जो-जो भी बाधायें आती हैं, वे अग्निपुञ्ज ऋषि वाणी से पथप्रदर्शन के लिये प्रार्थना करते हैं।

वह उन्हे मार्ग दिखाती है, सब बाधाये दूर होती है और उनकी सब कामनाये पूरी होती है। इसी प्रकार जो मनुष्य इस तत्व को जानता है वह इस आन्तरिक वाणी से सब कामनाओं का दोहन कर लेता है।

अब प्रश्न होता है कि कामनाओं के लिये क्या करे ? इस पर कहा कि—

स हैषोऽनानृतो वाचं देवीमुदिन्धे वद, वद वदेति।

अर्थात् वह मनुष्य अनृत का परित्याग कर दिव्यवाणी को अग्नि द्वारा प्रदीप्त करता है। प्रदीप्त करने का तरीका क्या है ? इसके लिये कहा कि वह वाणी से कहे कि हे देवि ! तू बोल, बोल, बोल !

यदि मनुष्य जीवन मे से असत्य का परित्याग कर आन्तरिक दिव्य वाणी से मार्ग-प्रदर्शन के लिये प्रार्थना करे तो वह अवश्य मार्ग दिखाती है। प्रार्थना करने पर वह वाणी करती क्या है ? इसके लिये आगे कहा कि "तद् यदिह पुरुषस्य पापं कृतम्भवति तदाविष्करोति यदि हैनदपि रहसीव कुर्वन्मन्यतेऽथहैनदाविरेव करोति। तस्माद्वाव पापं

न कुर्यात् ।

अर्थात् इस दिव्य वाणी से प्रार्थना करने पर पहले तो वह पुरुष के कृत पापों का प्रकट कर देती है । और जिसको मनुष्य यह समझता है कि मैं इस पाप को एकान्त में ही कर रहा हूं इसे कोई नहीं जानता उस पाप को भी वह प्रकट कर देती है ।

इसलिये उन्नति के चाहने वाले मनुष्य को पाप नहीं करना चाहिये । इस प्रकार आन्तरिक दिव्य-वाणी का यह अतिसंक्षिप्त स्वरूप हमने यहां प्रदर्शित किया है ।

ओ३म् ! पुरोहित उठ जाग

आर्यसमाज आजकल जीवन मरण के संघर्ष में से गुजर रहा है। पहिले भी कई बार इसी भांति वह संघर्ष की भट्टी में तप चुका है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अब तक जितने भी संघर्ष आर्यसमाज को करने पड़े हैं वे सब स्थूल जगत् के स्थूल स्तर पर हुये हैं। इससे भी भयंकर संघर्ष आर्यसमाज को सूक्ष्म जगत् में प्राणिकस्तर व मानस स्तर पर करने होंगे, और वे संघर्ष सर्व-साधारण जन के न होकर विद्वत्समाज में एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता वाले किन्हीं विरले व्यक्तियों से सम्बन्धित होंगे।

आर्यसमाज का प्राण व अन्तिम ध्येय वेद है। और वेद की सत्योपलब्धि बिना योग-साधना के सम्भव नहीं। और योग साधन में प्राणिक व मानस स्तर की आसुरी शक्तियां अत्यधिक भयंकर व उग्र रूप की होती हैं। जब तक आर्यसमाज को इन सूक्ष्म स्तरों पर विजय नहीं मिल जाती तब तक आर्यसमाज की चरमोन्नति व चिरस्थायित्व नहीं

हो सकता। ये स्थूल जगत् के संघर्ष आर्य समाज में कुछ समय के लिये अवश्य जान फूंक देंगे परन्तु रहेंगे ये सामयिक उपचार हो। वैसे तो स्वामी दयानन्द जैसे लोकोत्तर चमत्कारी पुरुष भगवान् की देन होते हैं परन्तु प्रयत्न से ऊंचे स्तर के कुछ व्यक्ति समाज में पैदा किये भी जा सकते हैं। प्रश्न पैदा होता है कि वे प्रयत्न क्या हैं ? बहुत से प्रयत्न हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि एक विशिष्ट प्रकार के संघर्ष में पड़े हुये विशिष्ट आध्यात्मिक उन्नति के अभिलाषी पुरुष को सम्मान के स्थान पर कभी नहीं पहुंचना चाहिये। उनके गले में जयमालाये व फूल मालायें डालनी, जल्से जलूसों में बुलाना उन्हें बहिर्मुखी बनाना है। और सूक्ष्म जगत् में हो रहे संघर्ष में आसुरी शक्तियों को सहायता करनी है। उच्च कोटि का विद्वान् भी सम्मान से पतित हो जाता है। मनु महाराज ने यह ठीक ही कहा है।

सम्मानाद् द्विजो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकांक्षेवमानस्य सर्वदा॥

इसलिये आर्य समाज के कर्णधारों व नेताओं

को यह विचारना चाहिये और विवेकपूर्वक यह निश्चय करना चाहिये कि किसको हमें किस संघर्ष में झोंकना है। संघर्ष की हह रगड़ मनुष्य में अग्नि पैदा करने वाली होती है। भगवान् इस संघर्ष से आर्यसमाज में अग्नि पैदा करना चाहते हैं। इसलिये हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि किसी प्रकार अग्नि उद्बुद्ध हो, जागृत हो (उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि) भारतीय संस्कृति सरिता का मूलस्रोत श्रुति है, इसमें किसी को भी लेशमात्र सन्देह नहीं। ऋग्वेद को आधुनिक काल के विद्वानों ने वह आद्य उद्गमस्थली माना है जिस से कि संस्कृति सरिता का सर्वप्रथम स्रोत आविर्भूत हुआ है। इस ऋग्वेद की भी सर्वप्रथम ऋचा संस्कृति स्रोत का वह अग्रस्फोट है। वह ऋचा इस प्रकार है—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

अग्नि—पुरोहितः—

अग्नि पुरोहित है वह अग्रणी (अग्नि-अग्रणी) है। भारतीय संस्कृति के प्रवाह को भूमण्डल में सर्वत्र प्रवाहित करने के अभिलाषी पुरुषों को इस

पुरोहित पद के भाव को भली भांति समझ कर हृदयंगम करना चाहिये। एक तो ऋग्वेद ने सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति की और फिर अग्नि को भी सबसे पूर्व पुरोहित पद से विभूषित किया। प्रश्न होता है कि यह क्यों? क्योंकि पुरोहित (पुरः अग्रे हितः स्थापितः) का भाव है आगे रखना। वेद कहता है कि तुम में सदा अग्नि प्रज्वलित रहे, तुम्हारी दृष्टि के सामने सदा अग्नि विद्यमान रहे। तुम चाहे सुधारक बन कर समाज में प्रविष्ट हो, राजनीति के मंच पर खड़े हो, राष्ट्र का शासन सूत्र सम्भालो, संस्कृति के अग्रदूत बनकर विचरो, विदेशों में भ्रमण करो, प्रकृति के गहन-गह्वरों में प्रविष्ट हो, अथवा आध्यात्मिकता के महान् आकाश में हंस बन कर उड़ो, चाहे किसी भी क्षेत्र में पदार्पण करो, अग्नि को सामने रखो, यही इस पुरोहित पद का भाव है। भगवान् ने भी जब सृष्टि का निर्माण किया तो उस ने भी सर्वप्रथम अग्नि को ही सामने रखा। 'स तपोऽतप्यत' वह तप-तपश अग्नि ही तो है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इस का क्या लाभ ? लाभ इसके अनेकों हैं। प्रथम लाभ यह है कि अग्नि

देव मार्ग की सब विघ्न बाधाओं को हर लेता है और मायावी आसुरी शक्तियों को भस्म कर देता है। संसार के ये नाना भांति के प्रलोभन मन-लुभावने, तन-सुहावने रूप धारण कर मनुष्य के सामने आते हे और उसे पथ भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हे। जिन मनुष्यों में दृढ़ मनोबल एवं अटूट संकल्पाग्नि नहीं है, वे इन प्रलोभनों के पाश में फंस जाते हे और अपने आपको खो बैठते हे। आज कल प्राय: सभी मनुष्य पाशबद्ध के समान असहाय तथा निर्जीव होकर इन दुर्दम्य आसुरी शक्तियों के अनुचर बने हुये असह्य यन्त्रणाओं को भोग रहे हैं। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि इन आसुरी शक्तियों का सामना किया जाय। परन्तु यह बिना अग्नि को धारण किये और उसे पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किये हो नहीं सकता। इसलिये हमें सदा यह प्रार्थना करनी चाहिये।

अरे! पुरोहित, उठ, जाग!

—o—

सदैक्यवाद

यह लेखमाला विक्रमी संवत् २००१ भाद्रपद, आश्विन, पौष तथा संवत् २००२ के ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मासों में श्री आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन, लाहौर के सन्मान्य पत्र आर्य में प्रकाशित हो चुकी है। यह लेखमाला शतवर्ष-जीवी, ऋषितुल्य श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा लिखित "सदैक्य सिद्धान्त" के सम्बन्ध में लिखी गई थी। अब उस समय से २०, २२ वर्षों का व्यवधान हो चुका है। वेद के सम्बन्ध में मेरे भी विचारों में कुछ परिवर्तन हुये, काफी उथल-पुथल सी मची, रातदिन चिन्तन हुआ—यह सब प्रक्रिया विक्षेपों व अनेकों बाधाओं के होते हुये अब भी हो रही है। और अपना अन्तिम जीवन पूर्णरूप से वेदो के अध्ययन व ब्रह्म-चिन्तन मे ही लगाने का विचार है। अतः यह लेखमाला हमें भविष्य मे 'ब्रह्मैक्य' विचार पर ऊहापोह करने में सहायक सिद्ध होगी। इसलिये इसे सुरक्षित करने की दृष्टि से 'वेद विमर्श' पुस्तक में प्रदर्शित किया जा रहा है। भविष्य में इसमें

कई परिवर्तन व परिवर्धन किये जायेंगे । अब हम सदैक्य सिद्धान्त पर विचार करते है ।

श्री पं० सातवलेकर जी ने ईश्वरवाद के संबन्ध में अपने विचार "वैदिक-धर्म" में प्रकट किये है । हमारा पक्ष करके उन्होंने यह लिखा है कि "हमारा पक्ष अद्वैत द्वैत आदि नहीं है। हमारा पक्ष जो वेद ने बताया है वही है। और वेद ने "एकं सत्" कहा है । इसी लिये हमारे पक्ष का नाम "एकत्व वाद" या "एकं सत् वाद" अथवा "सदैक्यवाद" हो सकता है ।" वे आगे लिखते है "एक ही सद्वस्तु है-यही है । एक ही वस्तु के अनेक पदार्थ कोई माने या न माने परन्तु वस्तु की अनेकता नहीं है । वस्तु के आश्रय से अनुभव में आने वाले पदार्थ की अनेकता जितनी चाहे मानी जाये, वह केवल उस वस्तु के विभिन्न दृष्टिकोणों से दीखने वाले पहलू ही हो सकते है। उससे वस्तु भेद सिद्ध नहीं होगा ।"

इस उपर्युक्त कथन के स्पष्टीकरण के लिये पं० जी ने कपास का उदाहरण दिया है । जिस प्रकार कपास से नानाविध कपड़े कोट, कमीज, पतलून आदि बनाये जाते हैं, उसी प्रकार सत् से यह सम्पूर्ण-

चराचर जगत् निर्मित हुआ है । अर्थात् सत् वह अन्तिम सत्ता (अल्टीमेट रियेलिटी) है जो कि इस चराचर जगत् का उपादान कारण है ।

मेरा इस लेख को लिखने का प्रयोजन यह है कि पं० जी के ऊपर मेरी बड़ी श्रद्धा है, वे कोई भी नयी व्याख्या व नयी परिभाषा वेद में से निकालते हैं वह विचारणीय होती है । उन्होंने अपने ईश्वरवाद के लेखों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अन्तिम वस्तु को सत् नाम दिया है । यह एक वेद की नयी परिभाषा है और वेदानुशीलन करने वालों के लिये एक विचारणीय विषय है । उनके वैदिक धर्म में निकले लेखों के पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने निम्न मन्त्र के आधार पर सदैक्यवाद नाम से एक नयी परिभाषा निकाली है । वह मन्त्र इस प्रकार है--

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।
>
> ऋ० १।१६४।४६ ।

पं० जी ने इस मन्त्र में सत् को संज्ञा (विशेष्य) माना है । जिस प्रकार पाणिनि के व्याकरण में गुण

संज्ञा 'अ, इ, उ' की है उसी प्रकार पं० जी की यह सत् संज्ञा है। जिस प्रकार पाणिनि के व्याकरण में गुण कहने से अ,इ,उ का ही ग्रहण हो सकता है। उसी प्रकार इस मन्त्र में सत् से अन्तिम सत्ता का ही ग्रहण होगा। यदि इस मन्त्र में सत् को संज्ञा न मानकर कोई और अर्थ किया गया तो वह पं० जी के कथनानुसार ठीक न होगा। क्योंकि और अर्थ करने पर सदैक्यवाद नहीं निकल सकता।

अब तक जितने भाष्य हमें दृष्टिगोचर हुये हे, सब में हम यह देखते है कि "एकं सत्" में एकम्' यह विशेषण है, और सत् इस 'एकम्' विशेषण का भी विशेषण है। जिसका हिन्दी में अर्थ" एकं सत्" एक होता हुआ यह होगा। परन्तु पं० जी की यह सत् संज्ञा जो कि अन्तिम वस्तु (अल्टिमेट रियेलिटि) अर्थ में प्रयुक्त हुई है—को विशेषण मान लिया जाये तो इससे सदैक्यवाद नहीं निकल सकता। पं० जी इस मन्त्र में सत् को विशेषण नहीं मानते हे, परन्तु सायणाचार्य व वेंकटाचार्य आदि भाष्यकारों ने इसे विशेषण ही माना है। और यास्काचार्य

ने तो दो स्थलों पर इस मन्त्र का स्पष्टीकरण किया है परन्तु एक स्थल पर भी इस सत् का निर्वचन, वर्णन या संकेत आदि कुछ भी नहीं किया। यदि चराचर जगत् सब इसी सत् का प्रपञ्च है तो सत् का तो इस स्थल पर यास्काचार्य को विशेष वर्णन करना चाहिये था, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। और फिर "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" इस निरुक्त वचन के आधार पर इस मन्त्र के अर्थ का पति यदि कोई ढूंढा जाये तो पं० जी के कथनानुसार 'सत्' ही है, इसलिये सत् को इस मन्त्र का देवता मानना चाहिये। संहिता में इस मन्त्र का देवता अग्नि माना गया है सत् नहीं।

और फिर "एकं सत्" ऐसा प्रयोग आजाने से हम वहां सत् निकालने लगें और उसे अन्तिम वस्तु मानने लगे तो बहुत गड़बड़ हो जायेगी। ऐसे प्रयोग तो वैदिक शास्त्रों में हमें अन्यत्र भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग हम आपके सामने रखते हैं।

चक्षःसत्--ऐ २।३२ में आता है कि "तस्मादेकं

सत्चक्षुर्द्वेधा" अर्थात् चक्षु एक होते हुये दो में विभक्त है। क्या? 'एकं सत्' ऐसा प्रयोग आजाने से हम यह मानें कि यहां सत् का वर्णन है।

गायत्री सत्—ऐ. ५।२८ में आता है कि "एकं वै सत् तत्त्रेधाभवत्" अर्थात् गायत्री एक होती हुई त्रिष्टुप् जगती आदि तीन छन्दों में विभक्त हो गई।

इसी प्रकार—

मादुष सत्—ऐ. ३।३३ में आता है कि 'मादुषं सत् मानुषमित्याचक्षते" अर्थात् मादुष होते हुये मानुष कहलाने लगा। यदि पं० जी की तरह "एकं सत्" ऐसा प्रयोग आजाने से सदैक्यवाद निकालने लगें तो चक्षु एक सत्, गायत्री दूसरा सत् और मादुष तीसरा सत् इस प्रकार न जाने कितने सत् निकल आवेंगे। ये तो सामान्य विशेषण के प्रयोग हैं। जैसा कि—

एकं सत्—नपुंसकलिंग।

एकं सन्तम्—पुंल्लिंग।

एकां सतीम्—स्त्रीलिंग।

इत्यादि प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य में भरे पड़े हैं। और फिर हमारा इस लेख को लिखने का

एक और भी प्रयोजन है और वह यह कि कई मन्त्रों में सत् विशेष्य रूप में आता है और कइयों में वह विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है । जिन मन्त्रों में सत् विशेष्य रूप में प्रयुक्त होकर संज्ञा व परिभाषा का द्योतक है, उन मन्त्रो से सत् का जो स्वरूप प्रतीत होता है वह पं० जी के सत् रूप अर्थात् अन्तिम सत्ता से अत्यन्त भिन्न है । जैसे कि निम्नलिखित मन्त्रों से पता चलता है--

ऋ० १०।७२।२,३ मन्त्रों मे आता है---

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।
देवानां प्रथमे युगेऽसतः सदजायत ।।

अर्थात् देवताओं के प्रथम युग मे असत् से सत् की उत्पत्ति हुई । इससे तो यह पता चलता है कि सत् अन्तिम सत्ता नहीं है, असत् अन्तिम सत्ता है और फिर नासदीय सूक्त ऋ० १०।१२९।१ में आता है कि---

"नासदासीन्नो सदासीत्" अर्थात् प्रलयावस्था में न तो सत् था और ना ही असत् था । इससे यह पता चल रहा है कि असत् और सत् ये दोनों ही अन्तिम सत्ता नहीं है ।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में सत् का विशेष्य-रूप अत्यन्त स्पष्ट है, और इन स्थलों पर यह संज्ञा व परिभाषा का द्योतक है। परन्तु इन मन्त्रों में प्रयुक्त सत् का रूप पं० जी के सत् से अत्यन्त भिन्न है। एक प्रकार से विरुद्ध है। इसलिये उस मन्त्र में जहां कि सत् विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ है, और विशेषण मानकर भी पं० जी के एकत्वाद में कोई विशेष व्याघात नहीं आता, वहां सत् को संज्ञा मानकर सत् के नाम से एक नयी परिभाषा खड़ी करना फिर केवल एक ही मन्त्र से जहां कि उसका संज्ञा होना अनिश्चित् है, एक वाद खड़ा कर देना कहां तक ठीक है इस पर भी अभी और सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है। हमारी सम्मति में सदैक्यवाद तो नहीं निकल सकता परन्तु एकत्ववाद की झलक अवश्य है। सत् सृष्टि निर्माण में अगला पग है अन्तिम नहीं है यह हम सत् और असत् पर विचार करते हुये फिर कभी आपके सामने रखेंगे।

हम पहले यह देख चुके हैं 'इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुः" ऋ. १।१६४।४६ मन्त्र में आये "एकं सत्" में सत् का विशेष्य होना और अन्तिम सत्ता

को वाचक संज्ञा या परिभाषा होना अनिश्चित है । 'एकं सत्' ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी आते हैं जहां कि वे स्पष्ट रूप में भी विशेषण हैं । इसलिये इस मन्त्र में भी "सत्" का प्रयोग विशेषण के तौर पर निश्चित ही है ।

दूसरी शंका हमारी यह थी कि यहां मन्त्र में आया "सत्" यदि विशेष्य है, और अन्य इन्द्र मित्र आदि शब्दों का यही केन्द्र बिन्दु है और सब नाम इसी सत् के वाचक हैं तो इस मन्त्र का देवता सत् होना चाहिये न कि अग्नि । क्योंकि इस मन्त्र का जो देवता होगा, इन्द्र मित्र आदि सब शब्द उसी देवता के विविध नाम होंगे । परन्तु हम देखते यह हैं कि सब भाष्यकार अग्नि को ही देवता मानते हैं और उसी अग्नि के ये विविध नाम बताते हैं । उदाहरण के लिये 'ऋगर्थदीपिका' में व्यंकट माधव के इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है :—

इन्द्र मित्रम् । अथापि ब्राह्मणं भवति । "अग्निः सर्वाः देवताः" इति । तस्येमं भूयसे निर्वचनाय । इन्द्रादींश्चाग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपतनः गरणवान् आदित्यश्च । एकमेव सन्तमग्निं बहुशरीरपरिग्रहाद्

बहुधा वदन्ति । अग्निमेव यमं मातरिश्वानञ्चाहुः ।

अर्थात् इन्द्रं मित्रम् १।१६४।४६ मन्त्र का देवता अग्नि है और ये सब अग्नि के नाम हैं। ब्राह्मण में कहा भी है "अग्निः सर्वा देवताः" अर्थात् अग्नि सब देवता है । इन्द्रादि नामों से उस अग्नि का ही निर्वचन या वर्णन है । वह अग्नि दिव्य है, सुपतन है, गरुत्मान् तथा आदित्य रूप है। उस एक ही अग्नि को बहुत से शरीर धारण करने के कारण बहुत नामों से कहते हैं ।

इस प्रकार अग्नि ही विशेष्य है, वही देवता है, सब नाम इसी के वाचक हैं, सत् के नहीं और "एकं सत्" को "एकमेव सन्तं" इस प्रकार विशेषण रूप में प्रयुक्त करके स्पष्ट रूप से 'सत्' की विशेषता का खण्डन किया है और यास्काचार्य ने तो 'सत्' को विशेषण रूप से अतिगौण प्रयोग होने से छोड़ ही दिया है ।

यह प्रश्न हो सकता है कि किसी पूर्वाचार्य ने 'सत्' को इतना महत्व न दिया, उसको देवता नहीं माना तो इसका यह मतलब नहीं कि हम भी न मानें। जैसा कि सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या 'इन्द्र' अर्थात्

आदित्य को उद्देश्य करके लिखी है हमारे विचार में यह ठीक नहीं है। यदि मन्त्र को सूक्ष्मतया देखा जाये तो स्वयं मन्त्र ही बता रहा है कि यहां देवता अग्नि ही हो सकता है और ये सब अग्नि के ही विविध नाम हैं क्योंकि अन्य सब शब्द तो एक वार ही मन्त्र में आये हैं। परन्तु अग्नि शब्द दो वार मन्त्र मे आया है।

'अग्निमाहुः—वदन्ति अग्निम्' अर्थात् इन्द्र मित्र आदि अग्नि को कहते हैं। इन्द्र मित्र आदि शब्दों का दो वार प्रयोग न होकर 'अग्नि' का ही दो वार प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि मन्त्र स्वयं अग्नि की विशेषता दिखा रहा है। ये सब अग्नि के ही नाम हैं। इस लिये सदैक्यवाद तो इस मन्त्र से नहीं निकलता, परन्तु यदि कोई इस मन्त्र का वाद निकालना ही चाहे तो एकाग्निवाद, अग्न्यैक्यवाद बेशक निकाल लें और यह भी याद रखना चाहिये कि इस मन्त्र का देवता अग्नि होने के कारण अग्नि अंगी है और इन्द्र आदि रूप उस अंगी अग्नि के अंग हैं। इस प्रकार यहां अग्नि से तो इन सबका ग्रहण हो जायेगा। परन्तु इनमें से किसी एक से इन सब का ग्रहण नहीं होगा। इसी

दृष्टि से "अग्निः सर्वा देवताः" यह ब्राह्मण वाक्य व्यंकट माधव ने अपने भाष्य में दिया है।

'आर्य' के ३ सितम्बर तथा २४ सितम्बर (सन् ४५) के अंक मे "श्री पं० सातवलेकर जी का सदैक्यवाद" शीर्षक से मेरा एक लेख छपा था। पं० जी को इस शीर्षक से आपत्ति है। मैंने किसी बुरी भावना से यह शीर्षक नहीं दिया था। पं० जी के समान वेद प्रेमी तथा अध्यवसायी व्यक्ति हमारे आर्य समाज मे कोई नही है, ऐसा मेरा विचार है। मेरी उन पर बड़ी श्रद्धा है। इसलिये उनको यदि किसी बात के प्रकटन के तरीके मे आपत्ति हो तो मैं सहर्ष परिवर्तित करने के लिये तैयार हूं।

भारतीय इतिहास मे एक समय वह भी आया जब कि आर्य जाति वेदों को भुला चुकी थी। केवल मात्र कुछ थोड़े से वेदपाठी ब्राह्मण ही बचे थे। और वे भी वेदों के अर्थों से नितान्त दूर थे। महर्षि दयानन्द की अपार कृपा से फिर वेदों का पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ है। परन्तु अभी हम बहुत प्रारम्भिक अवस्था मे है, ऐसा मैं समझता हूं। वेदों मे आये शब्दों के अर्थ, उनका क्षेत्र तथा सीमा क्या है? यह

हम अभी पूर्ण निश्चय से नहीं कह सकते। इसलिये मैं यह समझता हूं कि वेद प्रतिपादित किसी भी सिद्धान्त का निर्णय करने के लिये हमे मन्त्रों को ही नहीं अपितु शब्दो के भी अर्थ, इयत्ता इत्यादि का निर्णय पहले कर लेना चाहिये। एक २ शब्द पर विस्तार से लिखा जाना चाहिये। इसके अनन्तर ही हम मन्त्रों का ठीक २ अर्थ करने मे समर्थ हो सकेंगे। इसलिये इस प्रारम्भिक अवस्था में विचार भिन्नता होनी स्वाभाविक है। यह कोई आक्षेप व कटुता का कारण नही बनना चाहिये।

मेरे लेख के प्रत्युत्तर मे पं० जी ने जो लेख लिखा है, उसके सम्बन्ध मे मैं कुछ कहूं, उससे पहले मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूं कि वह लेख जो कि आर्य मे छप चुका है वह मैंने केवल 'सदैक्यवाद' शीर्षक पर लिखा था। और इस शीर्षक में भी 'सत्' शब्द के ऊपर लिखा था। सदैक्यवाद के सम्बन्ध में मैंने कुछ नहीं लिखा। इस सम्बन्ध मे भी मैं यथावसर कुछ लिखने का प्रयत्न करूंगा। मैं यह समझता हूं और पं० जी भी इससे सहमत होंगे कि वेद के प्रत्येक शब्द व उसकी प्रत्येक परिभाषा को ठीक-

ठीक स्थान मिलना चाहिये। पं०जी सदैक्य सिद्धान्त में तथा ऐक्य सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं समझते। परन्तु मैं इसमें बहुत विरोध समझता हूं। मेरे लेख के प्रत्युत्तर में लिखे पं० जी के लेख को पढ़ने से यह लगता है कि पं० जी अब 'सत्' शब्द को ज्यादा महत्व नहीं देते। परन्तु पं० जी के 'सदैक्य सिद्धान्त' के सम्बन्ध में लिखे गये पहले लेखों को पढ़ने से बहुतों पर यही प्रभाव पड़ा कि कि पं० जी 'सत्' को बहुत महत्व देते हैं। जैसा कि पं० जी अपने लेखों मे दिखाते रहे हैं कि अन्तिम वस्तु एक ही है और उसका नाम सत् है। अब यह वस्तु 'अनाम' बिना नाम के नहीं रही। उसका सत् नाम हो गया। अनाम को भी यदि कोई नाम देना है और वह भी वेद से देना है तो वेद का वही नाम देना चाहिये जो वेद-सम्मत हो। सत् नाम तो वेद मे 'अन्तिम वस्तु' के लिये नहीं है, क्योंकि कई मन्त्र हैं जो कि इसका विरोध करते हैं, जैसे "देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत" "देवानां प्रथमे युगेऽसतः सदजायत" "नासदासीन्नो सदासीत्" इत्यादि और भी कई मन्त्र दिखाये जा सकते हैं। इसलिये इन मन्त्रों से यह

तो स्पष्ट है कि अन्तिम वस्तु के लिये 'सत्' नाम नहीं देना चाहिये। और फिर यह भी नहीं है कि वेद में अन्तिम वस्तु के लिये नाम ही न दिया हो, उसे 'अनाम' ही छोड़ दिया हो। उस अन्तिम वस्तु के लिये ब्रह्म नाम है। जैसा कि उपनिषत् में आता है कि "त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्" प्रकृति जीवात्मा तथा परमात्मा का जब विन्दन होता है तब वह ब्रह्म कहलाता है। फिर पं० जी यह भी कहते हैं कि 'सदैक्य' में एक का महत्व अधिक है, सत् का नहीं। यदि सत् का महत्व नहीं तो सत् किस लिये है? क्या उसका कोई अर्थ नहीं! पं० जी की दृष्टि में क्या यह अन्तिम वस्तु का नाम नहीं? यदि यह अन्तिम वस्तु का नाम भी नहीं है और उसका यहां महत्व भी नही है तो फिर यह शब्द किस लिये है? इसलिये मैं तो पं० जी से यही निवेदन करूंगा कि वे 'ऐक्यवाद, एकत्ववाद अथवा ब्रह्मैक्यवाद' आदि नाम से इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ लिखें तो ठीक रहेगा।

स्वामी दयानन्द का उदाहरण जो पं० जी ने दिया है वह इस प्रकार है "स्वामी जी ने 'एकं सत्'

का अर्थ 'एकं सत् ब्रह्म' किया है। यह अर्थ लेकर पं० भगवद्दत्त जी 'सत्' को विशेषण मानें, विशेष्य मानें या जो कुछ और मानना चाहे मानें।" इस पर मेरा निवेदन यह है कि पं० जी ने स्वामी जी के 'अन्वय' को दिखाया है, 'पदार्थ' को नहीं। स्वामी जी ने 'पदार्थ' में सत् का अर्थ "विद्यमानम्" ऐसा दिया है जो कि स्पष्ट रूप से विशेषण है। शब्दों का अर्थ शब्दार्थ (पदार्थ) से ही पता चलता है अन्वय से नहीं। इसलिये स्वामी जी ने 'सत्' का अर्थ 'ब्रह्म' नहीं किया। फिर प्रश्न होता है कि स्वामी जी ने अन्वय मे "एकं सत् ब्रह्म" ऐसा क्यों दिया ? इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं। 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति" एक होते हुये को विप्र लोग बहुत प्रकार से कहते हैं। प्रश्न होता है कि जिसको विप्र 'एक होता हुआ' कहते हैं वह है क्या चीज ? इसके उत्तर में यह कहा कि वह ब्रह्म है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यहां सत् का अर्थ ब्रह्म है। ब्रह्म तो ऊपर से लाये हैं। और फिर एक-एक शब्द का अर्थ दिखाते हुये स्वामी जी ने 'सत्' का अर्थ 'विद्यमानम्' ऐसा स्पष्ट दिया है, फिर कोई

शंका ही नही रहती। आगे जो मन्त्रार्थ में पं० जी ने कठिनाई बताई है वैसी कठिनाईयां तो हमे गुरुकुल में पढ़ते हुये भी आती रही है। और कठिनाई तो गायत्री के सम्बन्ध मे "ऐ. ब्रा. ३१।२७ एकं सत् तत् त्रेधाऽभवत्" इसमे भी थी। गायत्री स्त्रीलिंग है तथा 'एकं-सत्' नपुंसकलिंग है। इसमे भी सायणाचार्य ने 'एकं स्वरूपं सत्' ऐसा 'स्वरूप' शब्द ऊपर से जोड़ दिया है। इससे कठिनाई हल हो गई। मन्त्र मे भी 'एकं स्वरूपं सत्' अथवा 'एकं ब्रह्म स्वरूपं सत्' ऐसा किया जा सकता है। वह एक रूप क्या है। वह ब्रह्म है। इस प्रकार मन्त्रार्थ मे कोई विशेष कठिनाई नहीं रहती।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य मे ऊपर से शब्द तो बहुत जोड़े जाते है। हां! यह बात पं० जी की बिल्कुल ठीक है कि कठिनाई अवश्य होती है। इस मन्त्र के अर्थ को दिखाने का यहां कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। इसका अर्थ मैं 'ऐक्यवाद' पर लिखते हुए दिखाऊंगा।

इस विषय मे इतना लिखने का कारण यह है कि सांख्य शास्त्रकार ने 'सत्' नाम प्रकृति का बताया

है । और स्वामी जी भी सत् से प्रकृति का ग्रहण करते हैं । जिस अन्तिम वस्तु के लिये पं०जी 'सत्' शब्द का प्रयोग करते हैं उसके लिये किसी ने भी 'सत्' का प्रयोग नहीं किया और मन्त्र भी इसका विरोध करते हैं । इसलिये इस 'ऐक्य' सिद्धान्त में 'सत्' का वह स्थान नहीं है जो पं० जी देते हैं, अथवा देते आये हैं ।

—o—

वेद का ऐक्यवाद

वेदों में श्री पं० सातवलेकर जी को ऐक्यवाद का दर्शन हुआ है। वेदों मे ऐक्यवाद का वर्णन है ऐसा हम भी समझते हैं। परन्तु पं० जी के ऐक्यवाद से हम कुछ मतभेद रखते हैं। पं० जी भावत्रयात्मक ऐक्य-वाद मानते हैं और हम वस्तुत्रयात्मक ऐक्यवाद का वर्णन है ऐसा समझते हैं। भावत्रयात्मक में वस्तु एक है, उसको परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति इन तीनों भावों मे देखा गया है। और वस्तुत्रयात्मक में वस्तु तीन हैं, परन्तु उन्हे एक रूप मे देखा गया है। इसी बात को हम इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं।

इस प्रकार श्री पं० जी के तथा हमारे मत में भेद इतना ही है। वस्तु त्रयात्मक ऐक्यवाद त्रैतवाद का ही दूसरा नाम है। वस्तु त्रयात्मक ऐक्यवाद के भी हम दो विभाग कर सकते हैं। सृष्टि-अवस्थात्मक-ऐक्यवाद और प्रलयावस्थात्मक-ऐक्यवाद। ये विभाग हमने वर्णन की सुगमता के लिये तो किये ही हैं, ये विभाग न करने से कई कठिनाइयां तथा उलझनें भी पैदा हो जाती हैं, जिन को कि हम आगे स्पष्ट करेंगे। अब हम ऐक्यवाद पर विचार करते हैं।

ऐक्यवाद में "एक शब्द"

ऐक्यवाद में एक शब्द का समझना जितना आसान समझा जाता है, उतना है नहीं। उदाहरण के लिये देवदत्त 'एक' है। इसको यदि हम वैज्ञानिक परिभाषा में समझना चाहें तो यह कह सकते हैं कि यह एक नहीं है—

देवदत्त (एक)

आत्मा + शरीर=दो हैं।

अर्थात् देवदत्त को जीवात्मा+शरीर इन दो मे विभक्त किया जा सकता है इससे यह स्पष्ट है कि इस 'एक' मे और भी एक-दो है । इसी प्रकार और भी कई दृष्टियो से विभाग किये जा सकते है । कहने का भाव यह है कि एक दो तीन आदि शब्द बड़े सापेक्ष है । देवदत्त को हम कहते है 'एक है' परन्तु वास्तव मे वह आत्मा+शरीर इन दो का सम्पर्क है । अब देखना यह है कि वेदो मे जो 'एक' व "ऐक्य" का वर्णन है, क्या वह इसी दृष्टि से तो नहीं है । यदि इसी दृष्टि से ही वर्णन है तो वहां भी एक आदि शब्द सापेक्ष होगे और एक मे और भी एक दो तीन हो सकते है ।

यही उपर्युक्त कठिनाई पुरुष शब्द मे है । मानव पुरुष मे तो स्पष्ट ही जीवात्मा+शरीर ये दो वस्तु है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । और फिर इस पुरुष के लिये जीवात्मा+शरीर दो होते हुये भी 'एक' का प्रयोग किया जाता है । परन्तु जहां परमात्मा को पुरुष कहा है वहां भी आत्मा+शरीर—ये दो है कि नहीं यह देखना है । श्री पं०जी ने इसी पुरुष पद की व्युत्पत्ति यह दी है "पुर+उष,

पुर+वस ये दो पद है। पुर में बसने वाला पुर के साथ सदा रहने वाला, जो पुर से कभी पृथक् नहीं होता वह पुरुष है। जिस तरह से मिश्री मे 'रवा मीठास' सदा मिली जुली रहती है। न रवा मीठास से कभी पृथक् हो सकता है और ना ही कभी मीठास रवे से पृथक् हो सकती है। उसी तरह पुर+वस का सम्बन्ध जानना चाहिये। रवा+मीठास का भेद कल्पना का है वास्तविक नही। इसी तरह पुरि मे बसने वाला यह भेद भी कल्पना का है वास्तविक नहीं है।"

श्री पं० जी के कथन में निम्न बातें आ गई है--

१. परम-पुरुष की पुर मे बसने की समता (उपमा) मिश्री के रवा मीठास से।
२. पुर में सदा बसने वाला, कभी पृथक् न होने वाला।
३. पुर और पुर में बसने वाले का भेद काल्पनिक है।

अब हम इन पर संक्षेप में विचार करते है। हम इस लेख में मानव-पुरुष को तो पुरुष और परमात्मा को 'परम-पुरुष' ऐसा करके लिखेंगे।

परम-पुरुष की समता (उपमा) मानव-पुरुष

परम-पुरुष की उपमा मानव-पुरुष है। ये ही सब वैदिक-शास्त्र तथा पौराणिक शास्त्र एक स्वर से कह रहे हैं। श्री पं० जी ने अपने "वैदिक धर्म" पत्र में समय २ पर 'पुरुष रूप' 'रुद्र रूप' 'विश्वरूप' इत्यादि कई लेखों मे उस परम-पुरुष की समता मानव-पुरुष से दिखाई है और जो भी मानव-पुरुष के अंग वा उपांग है, उन सब की समता परम-पुरुष के अंगो से पं०जी ने बहुत विशद रूप मे दिखा दी है। प्रश्न यह है कि जिस प्रकार मानव-पुरुष के एक २ अंग की समता व उपमा उस परम-पुरुषमे घटा दी है तब पुर मे बसने की समता भी मानव पुरुष से क्यों नही घटायी ? मिश्री के रवा मीठास मे क्यो घटाई ? क्या ऐसा कोई मन्त्र व प्रकरण नहीं है जहां कि परमात्मा के पुर मे बसने की समता मानव-पुरुष से स्पष्ट प्रतीत होती हो, इसलिये अब हमें परमात्मा के पुर मे बसने की समता पर कुछ विचार करना चाहिये।

पुर सदा नहीं रहता

जब हमें यह पता चल जायेगा कि पुर सदा

नही रहता तो पुर के साथ सदा रहने वाला और पुर से कभी पृथक् न होने वाला जो पं० जी ने बताया है वह ठीक न होगा। अर्थात् पुर सदा नही रहने वाला तो पुर के साथ पुरुष का सम्बन्ध भी सदा नहीं है, इसलिये मिश्री के रवा मीठास का उदाहरण भी ठीक न होगा।

जीवात्मा को हम पुरुष नहीं कह सकते। और न शरीर को ही हम पुरुष कह सकते है। जीवात्मा+शरीर इन दोनो के योग को ही पुरुष कहते है। पुरुष का शरीर पंचभूतों से निर्मित होता है। परन्तु पंचभूतों को भी हम पुर नहीं कह सकते। जीवात्मा के चारों ओर पञ्चभूतों के होते हुये भी वह जीवात्मा पुरुष नहीं कहलायेगा। परन्तु पंचभूतो का एक विशेष रूप मे (शरीर) परिणत होना ही जीवात्मा का पुर कहा जा सकता है। और यह पुर हमेशा नहीं रहता, समय पर बनता है और विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा का पुर भी निर्मित होता है और समय पर आकर विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जीवात्मा के चारो ओर विद्यमान पंचभूत जीवात्मा का पुर नहीं कहला सकते, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने मूल रूप

में रहती हुई परमात्मा को पुर नहीं कहला सकती सृष्टि अवस्था में आकर ही पुर कहला सकती है। इसी बात की पुष्टि अब हम प्रमाणों से करते हैं।

श० प० ब्रा० १३।५।१, २ में वर्णित यजुर्वेद के 'सहस्रशीर्षा पुरुषः०" इस सूक्त का व्याख्यान पं० जी ने अपने "वैदिक धर्म' पत्र में दिया है। पं० जी ने इस सूक्त को अपने 'सदैक्य' सिद्धान्त की पुष्टि में लगाया है वहां जो पुर की व्याख्या की गई है, उस पर विशेष ध्यान जाना चाहिये ऐसा हम समझते हैं। वहां आता है कि 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयम्पवते' अर्थात् ये लोक पुर हैं और यह जो पवन कर रहा है यह परमात्मा पुरुष है। यहां लोकों को पुर कहा गया है। वेद के सिद्धान्तों से थोड़ा सा भी परिचय रखने वाले यह भली-भांति जानते हैं कि वेद में प्रलय का विधान है। जैसा कि नासदीय सूक्त में वर्णन किया गया है कि "नासदासीन्नो सदासीत्०" इत्यादि सूक्त बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन कर रहा है।

प्रलय में लोक रहते ही नहीं, ये सब विनष्ट हो जायेंगे। जब लोकों को पुर कहा गया है और ये लोक

अर्थात् पुर हमेशा नहीं रहते तब पुर के साथ पर-
मात्मा का सम्बन्ध भी नित्य नहीं रहेगा । इसलिये
पं० जी ने जो मिश्री मे रवे मीठास की तरह पुर और
पुर मे बसने वाले का नित्य सम्बन्ध माना था, वह
ठीक नहीं प्रतीत होता ।

परम पुरुष का पुर

वेद मे परम पुरुष का जो पुर बताया गया है
उसका जो चित्र खींचा गया है, उससे भी यह पता
चलता है कि ऐसा पुर हमेशा नहीं रहता । प्रलय में
यह विनष्ट हो जायेगा । और इस मन्त्र से यह भी
संकेत मिलता है कि पुरुष संज्ञा से पहले परमात्मा
की ब्रह्म संज्ञा होती है । मन्त्र इस प्रकार है--

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥

अथ०१०।२।३३ ।

प्रकृष्ट रूप से चमकने वाली, धारण की जाती
हुई यश द्वारा चारो ओर से घिरी हुई, सुवर्णमयी तथा
अपराजित पुर मे वह ब्रह्म प्रविष्ट हुआ ।

इस मन्त्र में यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि

उस ब्रह्म की यह पू:या पुरी दीप्ति वाली, सुवर्णमयी इत्यादि है। इस पुर मे वह ब्रह्म प्रविष्ट होता है। यदि परम पुरुष के साथ पुर का सम्बन्ध नित्य मान लें और जैसा कि इस मन्त्र में पुर को भ्राजमान सुवर्णमयी इत्यादि कहा है तो "तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" अर्थात् सृष्टि पहले तम ही तम थी, वह अजायमान थी, सलिल थी। इत्यादि मन्त्रों का स्थान कौनसा होगा ? क्योंकि पुर का पुरुष के साथ पं० जी के कथनानुसार नित्य सम्बन्ध है और वह पुर सदा दीप्तिमय है तो फिर तम अर्थात् अन्धकार की अवस्था तो कभी होनी ही नहीं चाहिये। इस लिये मानना पड़ेगा कि पुर सदा नहीं रहता।

जब पुर सदा नहीं रहता अर्थात् नित्य नहीं है तो पुर के साथ परमात्मा का सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। इसलिये मिश्री के रवा मिठास की तरह परम्आत्मा और पुर का नित्य सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। हमारी सम्मति मे यह मिश्री का उदाहरण ही ठीक नही। पुर के साथ परमात्मा का सम्बन्ध बताने के लिये भी उपमा रूप मे मानव पुरुष का ही उदाहरण

लेना चाहिये ।

ब्रह्म की पुरुष संज्ञा कब होती है

जिस प्रकार जीवात्मा के चारों ओर अपने मूल रूप में पञ्चभूतों के होते हुये भी वह पुरुष नहीं कहलाता । पञ्चभूतों से शरीर के निर्माण होने पर ही पुरुष कहलाता है । उसी प्रकार जब तक पुर का निर्माण नहीं होगा तब तक परमात्मा की पुरुष संज्ञा नहीं होगी । प्रकृति को मानने वाले भी यदि प्रकृति को ही परमात्मा की पुर मानेंगे तो भी ठीक न होगा । प्रकृति से सृष्टि निर्माण होने पर ही उस सृष्टि रूपी पुर में बसने के कारण वह परमात्मा पुरुष कहलाता है । अब विचारणीय यह है कि सृष्टि निर्माणक्रम में किस सतह (स्टेज) पर उसे पुर कहने लगेंगे । शतपथ० ११।१।६।१,२ में हमें सृष्टि-निर्माणक्रम में वह सतह दिखाई देती है जहां पर कि उस ब्रह्म की पुरुष संज्ञा होती है । वह प्रकरण इस प्रकार है ।

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहि इति ता अश्राम्यँस्ता तपो-

उतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूवाजातो ह तर्हि संवत्सर आस । तदिदं हिरण्य-मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत ।।१

ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् स प्रजापतिः ।

संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदं हिरण्मय-माण्डं व्यरुजन् ।।२।।

(आपः) ये सब प्रजायें पहले (सलिलमेवास) सलिल अथवा (सतिलीनम्) सत् अर्थात् प्रकृति में ही लीन थी। (ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहि) उन्होंने कामना की कैसे उत्पन्न होवें। उन्होंने उत्पत्ति के लिये श्रम किया, तप किया। उनके तप करने पर एक हिरण्मय अण्डा पैदा हुआ। तब तक संवत्सर नहीं पैदा हुआ था। यह हिरण्मय अण्डा एक संव-त्सर समय पर्यन्त (परिप्लवन) अर्थात् चारों ओर तैरता रहा। इसके अनन्तर एक संवत्सर में पुरुष की उत्पत्ति हो गई। यह पुरुष प्रजापति था। इसलिये एक संवत्सर में पुरुष अर्थात् प्रजापति की उत्पत्ति हुई। इस प्रजापति ने इस हिरण्मय अण्डे को तोड़ा।

इससे यह स्पष्ट है कि परमात्मा की पुरुष संज्ञा तब होती है जब हिरण्मय अण्डा बन जाता है। यह

हिरण्मय अण्डा पुर कहलाता है। इस पुर में बसने के कारण वह पुरुष कहलाता है। इस पुरुष को प्रजापति भी कहा है क्योंकि यह अण्डे को तोड़ता है और प्रजाओं को उत्पन्न करता है। यह प्रजापति जिसको कि पुरुष कहा गया है इसकी भी उत्पत्ति होती है। इसी लिए कहा है कि "प्रजापतिरजायत" अर्थात् प्रजापति उत्पन्न हुआ। इस लिये यह पुरुष (प्रजापति) भी उत्पन्न होता है नित्य नहीं है। परन्तु इसकी उत्पत्ति यही है कि हिरण्मय अण्डे रूपी पुर का जब निर्माण हो जाता है तब उसमें बसने के कारण उसका नाम पुरुष पड़ जाता है। जिस प्रकार कि पिता शब्द है जब सन्तति होजाती है तब मनुष्य पिता हो जाता है। इसी को वैदिक भाषा में पिता की उत्पत्ति कह सकते हैं।

यही उस परम पुरुष की उत्पत्ति है। इससे भी संकेत मिल रहा है कि परमात्मा की पुरुष संज्ञा हमेशा नहीं है। प्रलयावस्था में परमात्मा को पुरुष नहीं कहेंगे, क्योंकि पुर नहीं है। इसलिये वेद में परमात्मा के पुरुष रूप का वर्णन करने वाले 'पुरुष' आदि सूक्त प्रलयावस्था का दिग्दर्शन कराने वाले

नहीं है, उन्हें सृष्टि अवस्था का वर्णन करने वाला समझना चाहिये । अन्त (प्रलयावस्था) में एक बचता है कि दो बचते हैं इत्यादि बातों का निर्णय इन पुरुष सूक्तों से नहीं होगा ।

और "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि वाक्य भी सृष्टि अवस्था के ऐक्यवाद को दर्शा रहे हैं ।

इसी प्रकार अथर्ववेद १०।२।२८–३३ मन्त्रों में भी ब्रह्म के पुर का वर्णन आता है । इन मन्त्रों की जो टेक है वह यही है कि––

"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते"

अर्थात् उस ब्रह्म के पुर को जो जानता है जिसके कारण कि यह ब्रह्म पुरुष कहलाता है ।

अर्थात् पुरुष संज्ञा होने से पहले परमात्मा की ब्रह्म संज्ञा होती है । पुर मे बसने के कारण यह पुरुष कहलाता है । इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा का पुरुष भाव नित्य नहीं है । इसलिये पुर में सदा बसने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

इस प्रकार हमने ऊपर यह दिखाया कि परमात्मा का पुर सदा नहीं रहता । सृष्टि अवस्था में पुर का निर्माण होता है । इसलिये पुर के साथ परमात्मा

का नित्य सम्बन्ध नहीं है।

पुरुष में ऐक्य भाव

जिस प्रकार लोक में हम कहते हैं कि विश्वपति गोरा है, गणपति काला है, देवमित्र लम्बा है, भू-मित्र ठिगना है, जगदीश मोटा है, इत्यादि और भी बातें इनके सम्बन्ध में कही जा सकती हैं। ये सब पुरुष हैं तो क्या हम यह समझेंगे कि आत्मा काली गोरी है या लम्बी चौड़ी है। परन्तु नहीं ऐसा कोई भी नहीं समझता। सब यही कहेंगे कि पुरुष में (आत्मा+शरीर) जो शारीरिक हिस्सा है, उसके ये गुण हैं आत्मा के नहीं हैं। परन्तु व्यवहार ऐसा ही है कि अमुक २ पुरुष काले गोरे तथा लम्बे चौड़े हैं।

इसी प्रकार पुरुषान्तर्गत एक और हिस्से के सम्बन्ध में भी मनुष्य कहते हैं कि अमुक पुरुष बैठा हुआ संकल्प विकल्प कर रहा है, झूठ बोल रहा है, चोरी कर रहा है इत्यादि तो क्या हम यह समझें कि आत्म तत्व यह सब कुछ कर रहा है। नहीं, ये सब मानसिक विकार हैं। परन्तु लोक में ऐसा ही प्रयोग

किया जाता है।

इसी प्रकार बुद्धि आदि अन्य सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है जिसका कि आत्मतत्व से सम्बन्ध न होकर पुरुष के शारीरिक हिस्से से होता है।

और फिर देवदत्त भूमित्र को थप्पड़ मारे, उसे घूर कर देखे, गाली देवे भूमित्र जाकर अपने अधिष्ठाता से शिकायत कर देवे कि देवदत्त ने मुझे थप्पड़ मारा, घूर कर देखा, और गाली दी। इस पर देवदत्त अधिष्ठाता से यदि कहे कि नहीं, मैंने थप्पड़ नहीं मारा, मैंने घूरकर नहींदेखा,और नाहीं मैंने गालीदी। मेरे हाथ ने थप्पड़ मारा, आंख ने घूर कर देखा, मुख ने गाली दी। अधिष्ठाता उसे इस पर पहले तो दण्ड देगा और फिर यही कहेगा कि हाथ भी तू ही, मुंह भी तू ही और आंख भी तू ही है। यह सब रूप तेरा ही है। क्योंकि आत्मा+शरीर इन दोनों को यहां एक रूप में देखा गया है। अर्थात् देवदत्त पुरुष (आत्मा+शरीर) एक है।

इसी प्रकार उस परम पुरुष के अंग उपांगों में इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांटा हुआ है। तो इन अंगों

को लेकर भी यही कहा जायेगा कि "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमा" अर्थात् वही अग्नि है, वही वायु है, वही आदित्य है, वही चन्द्रमा है इत्यादि –"पुरुष एवेदं सर्वम्" अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड पुरुष ही है।

इस प्रकार अद्वैत सम्बन्धी जितने भी मन्त्र प्रतीत होते हैं सब की इसी प्रकार व्याख्या हो जायेगी। परन्तु कठिनाई तो पं० जी के सामने यह होगी कि अद्वैत सम्बन्धी मन्त्र तो चारों वेदों में थोड़े हैं, प्रायः चारों वेद द्वैत सम्बन्धी मन्त्रों से भरे पड़े हैं। इनमें वर्णित द्वैत भाव को काल्पनिक मानना पड़ेगा। इससे तो सारा ही वेद काल्पनिक हो जायेगा। इसलिये वस्तुत्रयात्मक ऐक्यवाद सब समस्याओं को हल कर देता है।

परम-पुरुष-सम्बन्धी वर्णनात्मक तरीका

प्रश्न हो सकता है कि "तदेवाग्निस्तदादित्यः" अर्थात् वही अग्नि है, वही आदित्य है, इत्यादि वर्णन का तरीका ऐसा क्यों है? बात यह है कि मानव पुरुष

को तो हम ऊपर से नीचे तक एक बार मे ही देख लेते है। परन्तु यह ब्रह्माण्ड अर्थात् परम पुरुष का शरीर इतना विशाल है एक २ अंग व उपांग भी इतना विशाल व शक्तिशाली है कि बड़े २ ऋषि-महर्षि भी उसे एक दृष्टि में नहीं देख सकते। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या। इसका परिणाम यह होता है कि प्रायः सभी मनुष्य अन्धों के हाथी देखने की तरह परम पुरुष के एक-एक अंग को अलग ही देखते है और ऐसा ही समझते है। और जो जिस-जिस अंग से प्रभावित हो जाता है वह उस-उस अंग को ही परमात्मा मान बैठता है और उसकी पूजा करने लगता है। और दूसरे ने जो अंग देखा उसे झूठा समझता है, और लड़ता है। इसी प्रकार बहु देवतावाद चल पड़ता है। इसलिये वेद उस परम पुरुष के शारीरिक अंगों को लेकर "तदेवाग्निस्तदादित्यः' वही अग्नि है वही आदित्य है वही वायु इत्यादि---नामों से उसका वर्णन कर रहा है। परन्तु ये सब उस परम-पुरुष के शरीर के अंग है आत्म-तत्व के नहीं।

परमात्मा का प्रत्यक्ष

जिस प्रकार मनुष्य अपने व दूसरे के शरीर को देख कर आत्मा को नहीं जान लेते। उसी प्रकार परम-पुरुष के शरीर को देख कर यह समझने लगें कि हमें परमात्मा का प्रत्यक्ष हो गया तो ऐसा प्रत्यक्ष तो सभी प्राणी कर रहे हैं। परमात्मा के लिये बड़े २ तप व साधन की क्या आवश्यकता है? और फिर हृदयगुहा में उसको प्रत्यक्ष करनेका विधान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही है और सभी को प्रत्यक्ष है। हम उस शारीरिक अंगों—अग्नि, वायु, आदित्य की शक्तियों को देखकर यह तो कल्पना कर सकते हैं कि यह कितना शक्तिशाली होगा। परन्तु इस पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हमे प्रत्यक्ष हो रहा है। इसलिये शरीर को परमात्मा मानना कहां तक ठीक है यह विचारणीय है।

परम पुरुष के नाना नाम

जिस प्रकार देवदत्त पढ़ाने जाता है तो वह अध्यापक कहलाता है। सभा का संचालन करता है

तो सभापति, किसी मिल व कारखाने का प्रबन्ध करता है तो प्रबन्धक व मैनेजर इत्यादि जो २ भी वह कार्य करता है, उस २ के अनुसार उस देवदत्त का वही नाम पड़ जाता है। इसी प्रकार वह परम-पुरुष अपने कार्य व शक्तियों के आधार पर 'इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदित्य, रुद्र तथा शिव इत्यादि सैकड़ों हजारों नामों से स्मरण किया जाता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इन नामों द्वारा वर्णन या स्मरण किया गया वह परमात्मा पुरुष रूप बना हुआ है। धुर के साथ उसका ग्रहण है। पृथक् आत्म तत्व करके उसका ग्रहण नहीं है इसलिये हम यह भी कह सकते हैं कि प्रायः चारों वेद उस परम-पुरुष का वर्णन कर रहे हैं। जहां केवल आत्म-तत्व का वर्णन है वह तो बहुत ही थोड़ा है। प्रायः शरीर सहित परम-आत्मा का वर्णन है। और ऐसा वर्णन करना स्वाभाविक भी है क्योंकि परमात्मा का यदि वर्णन करना है, तो उसकी शक्तियों द्वारा ही उसका वर्णन हो सकता है। और शक्तियों का प्रकाशन सृष्टि अवस्था में ही हो सकता है। क्योंकि प्रलयावस्था में तो वह शक्तियों को समेट लेता है। और सृष्टि अवस्था का होना यह

बताता है कि वह पुरुष बना हुआ है। पुरुष रूप में वह दो होते हुये (पुर+परमात्मा=परम-पुरुष) भी एक ही कहा जायेगा। जैसे कि मानव-पुरुष दो होते हुये भी एक कहा जाता है इसी दृष्टि से वेदों में सर्वत्र इन्द्र-वरुण इत्यादि नामों से किया गया वर्णन शरीर सहित परमात्मा का वर्णन है और दो होते हुये भी 'एक' रूप में वर्णन किया गया है।

परम-पुरुष का विश्वरूप

वैदिक-साहित्य में अनेको स्थलो पर उस परम-पुरुष के विश्वरूप का बहुत वर्णन आता है। अर्थात् जो भी रूप हमें दिखाई देता है, वह उस परम-पुरुष का ही रूप है। हम भी यही मानते है कि इस ब्रह्माण्ड मे जितने भी रूप दिखाई देते है सब उसी परम-पुरुष के रूप है। रूप पाञ्चभौतिक पदार्थों मे होता है, जितने भी रूपवान् पदार्थ होते है, चाहे वे मनुष्य तथा अन्य प्राणियों आदि के क्यों न हों, वे सब उस परम-पुरुष के है। हम यह देख ही चुके है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस परम-पुरुष का शरीर है। मनुष्य आदि प्राणियों को जो यह शरीर मिला है, यह उस

परम-पुरुष के शरीर का ही तो अंश है। जीवात्मा को छोड़ कर कोई भी तो जीवात्मा का अपना नहीं। प्राण, मन बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्व भी तो उसी परम-पुरुष के शरीर में से लेकर घड़े हुये हैं। उस बड़े वृक्ष की ये सब शाखा प्रशाखाये हैं। उसी के शरीरावयवों मे से थोड़ा २ लेकर शरीर-रूपी एक प्रतिमा बना दी है। और यह प्रतिमा हम (अज भाग=जीवात्मा) को बसने के लिये दे दी है। इसलिये सब रूप उसी परम-पुरुष के हैं। इसी दृष्टि से मन्त्रों मे वर्णन आता है कि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" वह इन्द्र माया के द्वारा बहुत रूपों को प्राप्त होता है।

यहां भी हमे यह याद रखना चाहिये कि इन्द्र भी तो उसी परम-पुरुष का एक नाम है। शरीरी वह इन्द्र बहुत रूपों को धारण करता है, इससे द्वैतभाव मे कोई आपत्ति नही आती। इसलिये यहां पर माया स्पष्ट रूप से प्रकृति का ही दूसरा नाम है। अथर्व० ८।१०(४)। १ मे इसी प्रकार कहा है कि "सोदक्रामत् साऽसुरानगच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति।" अर्थात् विराट् ने उत्क्रमण किया वह असुरों के पास पहुंची, असुरो ने कहा कि

ए! माये! तू आ।

विराट् प्रकृति का ही एक नाम है। इसी विराट् को यहां पर असुरों द्वारा माया कहलाया गया है।

इसी प्रकार माया के सम्बन्ध में एक और मन्त्र है। 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।' ऋ० ३।५३।८।

अर्थात् वह (मघवा) इन्द्र अपने शरीर को चारों ओर से माया रूप मे करता हुवा प्रत्येक रूप को बार २ धारण करता है।

इस उपर्युक्त मन्त्र से यह स्पष्ट है कि इन्द्र का (तनु) शरीर ही माया रूप में परिवर्तित होता रहता है।

इसलिये माया भी इन्द्र का शरीर है वह इस माया-रूपी शरीर से नाना रूपों को धारता है।

इस प्रकार वेद के 'ऐक्यवाद' पर हमने यहां अतिसंक्षेप से अपने विचार अभिव्यक्त किये। भविष्य में 'ब्रह्म' पर विचार करते हुए और अधिक विस्तार से लिखने का प्रयत्न करेंगे।

—०—

सम्मति

'ऋषि-रहस्य' नामक पुस्तक पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। इसके लेखक श्री पं० भगवद्दत्त, वेदालंकार, एम० ए० हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के वैदिक अनुसन्धान विभाग से इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है।

वेद का अध्ययन करने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते हे, कि ऋग्वेद आदि में प्रत्येक सूक्त के पूर्व ऋषि देवता आदि का निर्देश किया रहता है। ये ऋषि वस्तुतः क्या हे, इस विषय में लेखक महोदय ने प्रभावपूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास किया है और कुछ नवीन यथार्थताओं यथार्थताओं का उद्भावन किया है।

लेखक महोदय ने स्मृति के 'याश्च वेदेषु दृष्टयः' इन अति संक्षिप्त पदों मे दिये गये संकेत को पकड़ कर अपने विचारों का आधार बनाया है, वेद में अनुस्यूत एवं तन्तुजाल के रूप में आबद्ध दर्शन ही ऋषि के रूप में प्रस्फुटित हुआ है, विचार की इस पद्धति का आश्रयण कर विद्वान् लेखक ने 'अयास्य' ऋषि का प्राण एवं इन्द्रियों के रूप में जो विश्लेषण किया है, वह निश्चित ही प्रतिभाजन्य एक नवीन ऊहा है। वैदिक आचार्यों ने वेदार्थ को

समझाने मे ऋषिज्ञान की आवश्यकता पर जो बल दिया है, उसकी सार्थकता इस पद्धति से विचार करने पर ही स्पष्ट रूप मे सम्मुख आती है ।

लेखक महोदय का यह आग्रह नहीं है, कि ये ऋषि मानव देहधारी प्राणी थे, वैदिक ऋषियों को अविकल रूप से ऐसा स्वीकार किया जाना संभव भी नहीं है । अन्यथा 'जालनद्धा मत्स्या ऋषयः ? इत्यादि का सामञ्जस्य प्रकट करना कठिन होगा । ऋषियो की यह स्थिति लेखक महोदय की विचार पद्धति को पुष्ट करती है ।

प्रस्तुत पुस्तक में इन भावनाओं के साथ अभिलषित विषय को विस्तार के साथ समझाते हुये प्रस्तुत किया गया है प्रतिपादन शैली अभिनन्दनीय चमत्कारपूर्ण एवं आकर्षक है । इस दिशा में वेदार्थ के लिये प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों के आपाततः प्रहेलिकारूप प्रतीत होने वाले प्रयास को आधुनिक रूप में स्पष्ट करने का विद्वान् लेखक का प्रयत्न अत्यन्त स्तुत्य है । वेद में रुचि रखने वाले वेदार्थ-जिज्ञासुओं को इससे लाभ उठाना चाहिये ।

समस्त वेद का इस पद्धति से आलोडन मानव जीवन के प्रशस्त मार्ग का उद्बोधन हो सकता है ।

—उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद ।

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान : सम्मति

श्री पं० भगवद्दत्त वेदालंकारलिखितं स्वप्नविषयकं 'वैदिक स्वप्नविज्ञान' नामकं पुस्तकमार्य्यभाषानिबद्धं मया मनोयोगेन पठितम् । अहो लेखकस्य वैदिक-मन्त्राणामर्थान्वेषणवैदुष्यम् ! अहन्तु अतीव चमत्कृतोऽस्मि विषय-विन्यासप्रकारेण । स्वप्नसम्बन्धे वैदिकवाङ्मयं महार्णवं मथ्नता ग्रन्थकृता प्रथमाध्याये 'मनुष्याणामवस्थात्रयम्, स्वप्नस्यसीमाविस्तारः, कालदृष्ट्या स्वप्नस्यविभागत्रयम्, भद्राभद्रत्वदृष्ट्या तस्य विभागद्वयम्, द्वितीयाध्याये च मृत्यु-पुनर्जन्मसम्बन्धिनी स्वप्नावस्था, तृतीयाध्याये रात्रिस्वप्न-विचारः, चतुर्थाध्याये दिवास्वप्नविचारः, पंचमाध्यायतो दशमाध्यायान्तम् श्रौतमन्त्राणां स्वप्नस्वरूपविवेचने दुःस्वप्नविनाशप्रकारे चिन्त[illegible]षु विनियोगः लेखकस्य वैदिकविज्ञानवैदुष्यं स्फुटं व्यनक्ति । स्वतन्त्रे भारते सम्प्रति ईदृशानामेव स्वतन्त्रप्रज्ञाणां पंडितानामावश्यकता विद्यते । स्वाध्यायशीला मानवा एवम्भूतानि पुस्तकानि अनुशीलयेयुश्चेत्तेषां ज्ञानवृद्धया सहैव वैदिकमन्त्राणामपि महत्वं जनतासु प्रसृतं स्यादिति लाभद्वयं स्यात् ।

किम्बहुना लेखकमहोदयम्प्रति ममानुरोधोऽस्ति यत्सोऽविरतमेवंविधानां वैदिकमन्त्रानुसन्धानपरम्पराणां क्रम-प्रवृत्योत्तरोत्तरं जगत्कल्याणं कुर्वन्नेव समयमयेद्येन भारतीयं जगद्गुरुत्वं पुनरपि विश्वस्मिन् विद्योतितं स्यादिति शम् ॥ —श्री गोपाल शास्त्री (दर्शन केसरी)

अध्यक्षः श्री काशी पंडित सभायाः ।